TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_176848
UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दू संस्कृति और ज्ञान के उद्धार-हेतु

उनकी

अनुपम सेवाओं के लिए

तपःपूत

श्री पंडित मदन मोहन मालवीय

के कर कमलों में

सादर समर्पित

प्रस्तावना

भारतवर्ष के सम्राटों में बहुत कम राजा ऐसे हैं जिनके राज्यकाल के इतिहास के लिए हर्ष के समान ही पुष्कल प्रमाण और घटना सामग्री उपलब्ध होती है। डा० विन्सेण्ट स्मिथ ने लिखा है कि यदि सब उपलब्ध प्रमाण—सामग्री की छान बीन की जाय तो जैसा निश्चित इतिहास हमें हर्ष के लिए प्राप्त हो सकता है वैसा चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए नहीं मिलता। वस्तुतः ऐतिहासिक सामग्री इतनी अधिक है कि अकेले हर्ष से सम्बन्ध रखने वाले इतिहास पर एक मोटा पोथा तैयार हो सकता है।

हर्ष के जन्म और प्रारम्भिक जीवन का बड़ा सुन्दर और सजीव वर्णन बाणकृत हर्षचरित. में पाया जाता है। बाणभट्ट संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध महाकवि हैं, और चूंकि वे हर्ष के राजकवि थे इस कारण उन्होंने उसके जीवन और राज्य का आंखों देखा बहुत ही सूक्ष्म वर्णन किया है। बाण कृत आख्यायिका संस्कृत साहित्य में प्राप्त होने वाला एक विशिष्ट जीवन चरित है। यद्यपि महाकवि की लेखनी से प्रसूत इस ग्रन्थ में अतिशयोक्ति और स्वच्छन्द कल्पना का भी यथेष्ट समावेश है, परन्तु सूक्ष्मबुद्धि ऐतिहासिक के लिए सत्यात्मक और कल्पना मिश्रित वर्णनों का विवेक कर लेना कुछ ऐसा कठिन नहीं है। कल्पनात्मक अंश में से ऐतिहासिक घटनाओं को जब हम अलग करके देखते हैं तो हमें बाण की सचाई पर आश्चर्यमुग्ध रह जाना पड़ता है, विशेषतः उस हालत में जब अन्य प्रमाण भी सर्वथा बाण का समर्थन करते हुए मिलते हैं। ऐसे स्थलों का निर्देश इस ग्रन्थ में यथास्थान कर दिया गया है। बाण की एक खूबी यह है कि उस के काव्यमय वर्णनों में तत्कालीन सभ्यता और रहन सहन पर प्रकाश डालने वाली अपरिमित सामग्री का अनायास ही समावेश हो गया

था। उससे हमें देहातों में ग्रामीणों के सादा जीवन, राजमहल और दरबार के ठाठ बाट, स्कन्धावारों की भगदड़, तथा आश्रमों के प्रशान्त तपोमय जीवन का भी यथावत चित्र देखने को मिलता है। वस्तुतः विविध जनपदों और देशवासियों के उस समय के आचार व्यवहार और वेषभूषा के सम्बन्ध में, तथा उनके विद्याप्रचार, धर्म और ज्ञान के विषय में उपलब्ध सामग्री इतिहास का कम महत्त्वपूर्ण अंश नहीं है क्योंकि उस युग की सभ्यता का परिज्ञान तो हमें उसी से प्राप्त होता है। राजनैतिक घटनाओं के बारे में अगर हमारा ज्ञान थोड़ा है, तो उसकी कमी हर्षचरित में दी गई सामाजिक इतिहास सम्बन्धी इस महत्त्वपूर्ण सामग्री से पूरी हो जाती है। हर्षकालीन भारतवर्ष का आंखों देखा वर्णन प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन साँग ने भी किया है। इस विद्वान् लेखक का वर्णन एक गज़ेटियर की तरह विशद और रोचक है। भारतीय इतिहास के कई लुप्त प्रकरणों के उद्धार के लिये हम इस चीनी यात्री के ऋणी हैं। बाण और चीनी यात्री के प्रत्यक्ष वर्णनों के अतिरिक्त कितने ही शिलालेखों से भी हर्ष के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है, जिनमें दक्षिणापथ के सम्राट् हर्ष के समकालीन महाराज पुलकेशी द्वितीय के कई लेख, तथा गुप्त सम्राटों और गुप्तोत्तरकालीन अन्य राजाओं के अधिकांश लेख सम्मिलित हैं। इन से हर्ष के इतिहास और विशेषतः उसकी शासन प्रणाली के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, जिस शासन की सुव्यवस्था से किसी समय महान् साम्राज्यों का नियन्त्रण होता था। इस ग्रन्थ के प्रकरणों को सर्वप्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय के सम्मुख व्याख्यान रूप में सुनाया गया था। लखनऊ विश्वविद्यालय में अपने विद्यार्थिवर्ग के उपयोगार्थ भी इन्हें शीघ्र ही ग्रन्थ रूप में सम्पादित किया गया।

लखनऊ विश्वविद्यालय
सितम्बर १९२५

राधाकुमुद मुकर्जी

विषय सूची

अध्याय			पृष्ठ
१		आरम्भिक जीवन और अभिषेक	१
२		युद्ध, विजय और आधिपत्य	१६
		टिप्पणियां	
	अ—	हर्ष के कुछ समकालीन राजाओं के विषय में	४६
	ब—	हर्ष और उसके पूर्वाधिकारियों के इतिहास की कुछ तिथियों के विषय में	७३
	स—	शशांक और भास्करवर्मा	७४
३		सभाएं	८०
४		शासन	६०
५		धर्म और विद्या	१२६
		टिप्पणियां	
	अ—	हर्ष के नाटक	१६६
	ब—	गुप्तकाल की कला	१७४
६		आर्थिक दशाएं	१८१
७		सामाजिक जीवन	१६०
		उपसंहार	२०६

अध्याय १

आरम्भिक जीवन और अभिषेक

हर्ष[1] हमारे प्राचीन काल के इतिहास के कतिपय उदाहरणों में से एक ऐसे राजा का उदाहरण है जिसने अपनी विजयों से अपने आप को राजाधिराज बनाया और अपनी साधना से एकच्छत्र अधीश्वर की भाँति भारतवर्ष के एक विशाल खण्ड को राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँधा। उसके इतिहास का मुख्य स्रोत हर्षचरित है जिसे बाण ने, जो सम्राट् हर्ष के दरबार के कवियों में से एक था, लिखा है। प्रसिद्ध चीनी यात्री युआन च्वाँग के साक्ष्य से, जिसने इस सम्राट् के जीवन और कर्म का अपनी आँखों देखा वृत्तान्त लिखा है, इस देशी साहित्यिक प्रमाण-सामग्री की प्रचुरतया पूर्ति और पुष्टि होती है।

हर्ष के तीन उपलब्ध लेख भी हैं जिनसे कुछ बहुमूल्य इतिवृत्त ज्ञात होता है; ये हैं—सोनपत ताम्र मुद्रा [फ्लीट कृत गुप्त इंस्क्रिपशन्स सं० ५२], हर्ष संवत् २२

---

१ हर्ष को कभी कभी लोग विना यथेष्ट प्रमाण के ही श्री हर्ष भी लिखते हैं। श्री उसके नाम का अंग नहीं है, नहीं तो श्री श्रीहर्ष नाम लिखा हुआ मिलता, जैसा कि कहीं नहीं मिलता। विक्रमादित्य पञ्चम के कौठेम दानपत्र में उसे हर्ष-महानृप कहा गया है [इण्डियन एन्टीक्वेरी, वाल्यूम १६, पृ० २२], और बाण के ग्रन्थ का नाम केवल हर्ष-चरित ऐसा ही है [फ्लीट कृत गुप्त इं०, पृ० २०७, टिप्पणी ३]. किन्हीं शिलालेखों में उसे हर्षदेव भी कहा गया है [देखिये नौसारी दानपत्र और अफसद शिलालेख (इण्डियन एन्टीक्वेरी, भाग १३, पृ० ७३, ७९)], जो नाम कि बाण के हर्षचरित में भी पाया जाता है।

अर्थात् लगभग ६२८ ई० का बांसखेरा पटल, (copper-plate) और संवत् २५ अर्थात् सन् ६३१ का मधुवन पटल। किन्तु सीधे हर्ष से सम्बन्ध रखने वाले जिस इतिवृत्त की उपलब्धि इन लेखों से होती है उसकी महत्त्वपूर्ण पूर्ति, विशेष करके उस काल की शासनपद्धति के रोचक विषय पर, उस युग के उन सब शिलालेखों के द्वारा होती है जिनका आरम्भ एकच्छत्र गुप्त नरेशों से होता है।

इस वंश का प्रवर्तक, शिव का अनन्य भक्त और उपासक परम माहेश्वर पुष्पभूति था, जिस पर भैरवाचार्य नामी एक विख्यात दाक्षिणात्य शैव सन्त का प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि एक समय राजा वेताल साधना के लिए अपने गुरु के पीछे पीछे किसी श्मशान में गया और उसने लक्ष्मी-रूपिणी अपनी इष्ट देवी से यह वर प्राप्त किया कि 'तुम एक महान् राज-वंश के प्रवर्त्तक होगे।" [हर्ष चरित पृ० ११५][1]

मधुवन पटल के लेख में हर्ष के निकटवर्ती पूर्वजों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

नरवर्धन-वज्रिणीदेवी
|
राज्यवर्धन-प्रथम-अप्सरोदेवी
|
आदित्यवर्धन-महासेनगुप्तादेवी
|
प्रभाकरवर्धन-यशोमती (मालवा के सम्राट् (महाराजाधिराज) यशोधर्मा विक्रमादित्य की पुत्री)।

बाण के आख्यान में हर्ष का पिता प्रभाकर वर्धन आरम्भ

---

१ इस अनुवाद में बाणकृत हर्षचरित के उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित पंचम संस्करण (१९२५) के अनुसार दी गई हैं।

में श्रीकण्ठ प्रान्त के स्थाण्वीश्वर नामी ज़िले का छोटा राजा था। काल-क्रम से उसने सारे उत्तरी भारत के अनेक देशों और जातियों को वश में करके अथवा उन पर अपना आतङ्क बिठा कर प्रायः सम्राट् के बराबर पद को प्राप्त कर लिया। उसने अपने आप को 'हूण रूपी हरिणों के लिये सिंह, सिन्धुराज के लिए काल-ज्वर, गुजरात के लिये निद्रोच्चाटन, गान्धारराज रूपी गन्ध-हस्ती के लिए कूट पाकल [एक प्रकार का हस्ति ज्वर], लाट लोगों की निरंकुशता के लिए लुटेरा, मालवा की लक्ष्मी-लता के लिये कुठार' [हर्ष चरित पृ० १२०] सिद्ध किया। 'प्रत्येक दिशा में कगारों और खड्डों, वनों और गुल्मों, पेड़ों और तृणों, झाड़ियों और बाँबियों, पहाड़ों और कन्दराओं को पाटते हुए उसकी सेनाओं के विस्तीर्ण मार्ग पृथ्वी को उसके आश्रितों के उपयोग के लिये विभक्त करते हुए से मालूम होते थे।' [हर्ष० १२०] इस प्रकार वह 'प्रतापशील इस दूसरे नाम से दूर दूर तक विख्यात' हो गया। खुदे हुए लेखों में भी कहा गया है कि उसका यश चारों समुद्रों से परे फैल गया था और दूसरे राजा लोग उसके प्रताप और अनुराग के कारण उसके वशवर्ती हो गये थे (मधुवन पटल) और इन लेखों में उसे 'महाराजाधिराज परमभट्टारक' की उपाधि दी गई है, जब कि उसका पिता आदित्यवर्धन और उसका दादा राज्यवर्धन प्रथम केवल महाराजा ही कहे गये हैं।

लगभग सन् ५९० ई०[1] में 'ज्येष्ठ के महीने के कृष्णपक्ष की द्वादशी को कृत्तिका नक्षत्र के पूर्ण प्रभाव में ठीक गोधूलि के उपरान्त' रानी यशोवती अथवा यशोमती (सोनपत मुद्रा

---

१ इन संवतों को हमने जिस प्रकार ढूंढ निकाला है उसके लिये द्वितीय अध्याय के अन्त में दी हुई ब संख्यक टिप्पणी देखिये।

के लेखानुसार) के गर्भ से हर्ष का जन्म हुआ। राजा को राजकुमार के जन्म का शुभ समाचार रानी की धात्री की लड़की सुयात्रा ने सुनाया। जब राजकुमार राज्यवर्धन केवल छः वर्ष का था तब सन् ५९३ ई० के लगभग उसकी बहिन राज्यश्री पैदा हुई। उस समय, जैसा कि बाण हमें बतलाता है, हर्ष अभी इतना छोटा था कि वह 'अपनी धात्री की उँगलियों के सहारे केवल पांच छः पग चल सकता था' और 'नन्हे नन्हे दान्त उसके मुख की शोभा बढ़ाने लगे थे,' [हर्ष० १३४] जिससे मालूम होता है कि उसकी आयु ज्यादा से ज्यादा दो वर्ष से अधिक न रही होगी। जब ये राजशिशु सयाने होने लगे तो उनके मामा, यशोवती के भाई,[1] ने अपने पुत्र भण्डि को तरुण राजकुमारों की सेवा-शुश्रूषा करने के लिये भेजा। बाद को राजा ने मालवा[2] के दो राजकुमार, कुमार-गुप्त और माधव-गुप्त को, [हर्ष० पृ० १३८] जो हर्ष के मामा भी लगते थे (टि० अ, अध्याय २) इनका सहचर नियुक्त किया। इससे सम्भवतः यह प्रगट होता है कि मालवा का राजा उसके आधीन था।

---

१ यह मालवाधिपति शीलादित्य था जो यशोधर्मन् विक्रमादित्य का लड़का था हमने द्वितीय अध्याय के अन्त की अ टिप्पणी में बताया है कि प्रभाकरवर्धन से हारकर उसे जो संधि करनी पड़ी थी उसके अनुसार उसने अपने पुत्र को थानेश्वर के दरबार में भेजा था। यह घटना सन् ५९३ के लगभग की है।

२ यहां मालवा से तात्पर्य पूर्वी मालवा से है। राजकुमार कुमारगुप्त और माधवगुप्त पूर्वी मालवा के राजा के पुत्र थे। खास मालवे का प्रदेश महानृपति यशोधर्मन् (सन् ५३३-५८३) और उनके पुत्र शीलादित्य (सन् ५८३ से ५९३) के अधीन था, जैसा द्वितीय अध्याय की अ टिप्पणी में बताया गया है।

राजकुमारों की शिक्षा[1] के विषय में कोई विशेष विवरण नहीं दिया गया है। ज्यों ज्यों वे बढ़ते गये 'उनके शरीर-बन्ध वज्र की भान्ति कठोर होते गये,' वे 'घोड़ों पर चढ़ कर बाहर निकलते थे और अङ्ग-विन्यास में अरुण और गरुड़ जैसे सुन्दर थे', उनके हाथ तलवार चलाने के अभ्यास से पड़े हुए लाञ्छनों के कारण नित मलिन होते थे, जबकि उन के मनोविनोद का समय उनके धनुषों की गम्भीर टङ्कार से लक्षित होता था [हर्ष० पृ० १३६–३७]।

उनकी बहिन राज्यश्री 'नृत्यगीतादि में निपुण सखियों और सकल कलाओं से नित अपना परिचय बढ़ाती हुई शनैः शनैः परिवर्द्धित होने लगी [हर्ष० पृ० १४०]। अपेक्षाकृत परिमित समय में ही यौवन को प्राप्त हुई वह उचित ठाट-बाट और विधि विधान के साथ मुखर[2] राजवंश के राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र राजकुमार ग्रहवर्मा को ब्याही गई [हर्ष० पृ० १४१]; 'स्वयं राजा लोग भी अपने महाराजाधिराज के

१ अक्सर लोग इस बात को नहीं जानते कि बाण ने हर्ष के एक तीसरे भाई का भी वर्णन किया है, जिसका नाम कृष्ण [हर्ष० पृ० ५२] हर्षचरित में हर्ष के एक पुत्र का भी उल्लेख [हर्ष० पृ० ६१] है।

२ हरहा शिलालेख [एपि० इन्डि० वाल्यूम १४ पृ० ११०] के अनुसार मुखर राजवंश की उत्पत्ति सूर्यवंश से थी। उसमें लिखा है कि महाभारत कथा प्रसिद्ध सती सावित्री के पिता मद्र देश के राजा अश्वपति इस वंश के संस्थापक थे। मुखर राजकुल की अति प्राचीनता इस बात से भी ज्ञात होती है कि गया से मिली हुई एक मिट्टी की मुहर पर मौर्य काल की ब्राह्मी लिपि में खुदे हुए अक्षरों में मोखलिश=मौखरेः पाया गया है [देखिये फ्लीट कृत गुप्त-शिलालेख, पृ० १४]. काशिका ग्रन्थ में गोत्रावयव अर्थात् छोटे गोत्र या कुलों के उदाहरणों में भी मुखर शब्द दिया हुआ है। पाणिनीय सूत्र ४।१।७६ के अनुसार मुखर से स्त्रीवाची मौखर्या शब्द सिद्ध किया गया है।

बताय हुए सजावट के काम में कटिबद्ध होकर जुटे थे', जब कि 'दूराति-दूर पूर्व से आकर समस्त सामन्तों की रानियां उपस्थित हुई'।

कुछ समय के उपरान्त उसके पुराने शत्रु हूणों ने फिर उपद्रव मचाना आरम्भ किया, किन्तु राजा इतना बूढ़ा हो चुका था कि वह उनसे स्वयं नहीं जूझ सकता था। इसलिए उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन को, 'जिसकी आयु अब कवच धारण करने योग्य हो गई थी, अपने पास बुलाया और, जिस प्रकार सिंह अपने शावक को हरिणों के विरुद्ध प्रेरित करता है, उसे एक अपरिमित सेना का अध्यक्ष बना कर पुराने मन्त्रियों और अनुरक्त महासामन्तों के साथ हूणों पर आक्रमण करने के लिए उत्तरापथ की ओर भेजा। हर्ष उस समय इतना छोटा था कि उसे इस नियोग में सम्मिलित नहीं किया जा सकता था; फिर भी वह पीछे रहना नहीं चाहता था, इसलिये अश्वारोहियों की एक सेना लेकर अपने भाई के साथ हो लिया। जब उसका बड़ा भाई पहाड़ों में शत्रु को खदेड़ रहा था, हर्ष सिंह, शरभ, शार्दूल और सुअरों के आखेट में व्यस्त था, जो हिमालय की तराई के जंगलों में प्रचुरता से पाये जाते थे। 'धनुष को कानों तक खींच कर उसने उससे देदीप्यमान बाणों की वृष्टि की जिससे थोड़े ही दिनों में वन जंगली जन्तुओं से शून्य हो गये।'

जब दोनों भाई इस प्रकार व्यापृत थे तो राजधानी से कुरङ्गक नाम का सन्देशहर एक पत्र लेकर हर्ष के पास आया,

---

१ आदित्यसेन के अफसद शिलालेख में कन्नौज के मौखरियों के भी हूणों से पीड़ित किये जाने और स्वयं उन्हें सीधा करने का निर्देश है। इस प्रकार कनौज और थानेसर के दोनों राज्य अपने समान शत्रु हूणों के विरुद्ध मित्रभाव से एक हो गये। इस मैत्री का कारण दूसरे अध्याय टिप्पणी अ में समझाया गया है।

जिसमें उसके पिता की चिन्ताजनक बीमारी–'भीषण दाह-ज्वर'–का समाचार था। हर्ष सहसा घोड़े पर सवार होकर राजधानी को लौट पड़ा और जब तक अपने पिता के रोग-शय्या के पास न पहुँच गया उसने तीन दिन तक अन्नजल ग्रहण नहीं किया। महाराज की शुश्रूषा करनेवाले वैद्यों में सुषेण [हर्ष० पृ० १५४] और रसायन [हर्ष० पृ० १५६] का जो अष्टांग आयुर्वेद में पारंगत था उल्लेख किया गया है। महल की तीसरी कक्षा से होकर जाते हुए राजकुमार को खौलते हुए तेल, मक्खन और क्राथों की सुगन्ध आई जो रुग्ण महाराज के लिए औषधियों के तय्यार करने में इस्तेमाल किये जा रहे थे। महल के पास पहुँच कर हर्ष ने अपने बड़े भाई को लाने के लिए एक एक करके शीघ्रगामी सन्देश-हर और तेज़ उष्ट्रपाल (ऊँट-सवार) भेजे किन्तु इसी बीच महाराज प्रभाकरवर्धन संसार से चल बसे। राजकुमार हर्ष के लिए उनके अन्तिम शब्द थे—'इस लोक पर अधिकार करो, मेरे कोश को आत्मसात् करो, सामन्तवर्ग को पारितोषिक रूप से ग्रहण करो, राज्यभार का वहन करो, प्रजा की रक्षा करो,

१ यह लिख देना रोचक होगा कि चीनी यात्री इत्सिंग भी, जो युआन च्वांग के थोड़े ही समय बाद भारतवर्ष में आया था, उस समय के अष्टांग आयुर्वेद का उल्लेख करता है जिसमें उसके कथनानुसार क्रम से इन आठ अंगों का वर्णन था:–(१) भीतरी और बाहरी व्रण (शल्यतंत्र), (२) गले से ऊपर के रोग (शालाक्यतंत्र) (३) गले से नीचे के अर्थात् शारीरिक रोग (कायचिकित्सा), (४) भूत प्रेत आदि के आक्रमण से होनेवाले आसुरी रोग (भूतविद्या), (५) विषों की औषधियां (अगदतंत्र), (६) गर्भ स्थिति से लेकर सोलह वर्ष तक की आयु के बच्चों के रोग (कौमारभृत्य), (७) जीवन को दीर्घ बनाने के उपाय (रसायन तंत्र) और (८) टांगों और शरीर को पुष्ट करने के साधन (वाजीकरणतंत्र)।

अपने परिजनों का पालन करो, शस्त्राभ्यास में निपुण बनो, शत्रुओं को निर्मूल कर डालो'।' [हर्ष० पृ० १६८] मृत राजा की चिताभस्म के ऊपर ईंटों का एक स्मारक स्थापित किया गया, और हर्ष उत्कण्ठित हृदय से अपने भाई के आने की बाट जोहने लगा [हर्ष० पृ० १७४]।

आखिरकार युद्ध में हूणों को जीतने में लगे हुए, तीरों के, घावों पर लम्बी सफेद पट्टियां बांधे हुए [हर्ष० पृ०१७६] राज्यवर्द्धन लौट आया और अपने पिता की मृत्यु से इतना विह्वल हुआ कि सिंहासन अपने छोटे भाई के लिये छोड़ कर उसने संसार से संन्यास लेने और तपस्वी बनने का संकल्प कर लिया। किन्तु हर्ष का हृदय इतना उदार था कि वह इस पद को ग्रहण नहीं कर सकता था और उसने अपनी आग्रहभरी युक्तियों और भावों से अपने भाई को सिंहासन पर बैठने के लिए बाध्य किया।

पर इस सिंहासन ने उन दुर्दैवग्रस्त दोनों भाइयों में से किसी के लिए भी शान्ति का आवाहन नहीं किया। सहसा ही राजकुमारी राज्यश्री का संवादक नामी विश्रुत परिचारक बड़ी भारी विपत्ति का समाचार लेकर नवाभिषक्ति राजा के पास आया—'जिस दिन अवनीश्वर प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु की खबर उड़ी, उसी दिन दुरात्मा मालवराज² ने महाराज

१ इन शब्दों से स्पष्टतया यह सूचित होना सिद्ध नहीं होता कि राजा ने घर से बाहर गये हुए अपने ज्येष्ठ पुत्र के स्वत्वों को कुचल कर, हर्ष को सिंहासन के लिए चुना हो। फिर भी, जैसा आगे उद्धृत किये हुए कतिपय-गुप्त शिलालेखों में दर्शाया गया है, राजाओं के द्वारा इस प्रकार अपने उत्तराधिकारियों की नियुक्ति उन दिनों कोई असाधारण बात नहीं थी।

२ शीलादित्य, जिसके साथ पूर्वी मालवा का राजा देवगुप्त भी था (जिसका उल्लेख मधुवन पटल में किया गया है) देखो अध्याय २ टिप्पणी अ।

ग्रहवर्मा को अपने सुकृतों सहित जीवलोक से पृथक् कर दिया। राजकुमारी राज्यश्री को भी दस्युस्त्री की भाँति पैरों में लोहे की बेड़ियाँ पहना कर क़ैद कर दिया गया है और वे कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दी गई हैं। इस के अतिरिक्त यह भी किंवदन्ती है कि सेना को नायक-हीन समझ कर यह दुर्मति दुराचारी इस देश पर भी आक्रमण करना और उसे हड़प कर जाना चाहता है। यह समाचार है; आगे इस विषय में स्वयं महाराज प्रमाण हैं।' [हर्ष० १८३] इस समाचार को सुनकर राज्यवर्धन एकदम और अधिक विह्वल हो उठा, और क्रोध के आवेश में संतप्त होकर वह चिल्ला उठा—'आह मालव लोगों का पुष्पभूति के वंश के साथ

---

१ इस वाक्य से कुछ का अनुमान है कि कन्नौज में मौखरि-राज्य था। एक अन्य स्थान पर भी हर्ष चरित्र में [हर्ष० २२६] कनौज का, जिसे राज्यश्री के वहाँ क़ैद किये जाने के पहिले मालवा के गुप्त नरेश ने छीन लिया था [गुप्तनाम्ना च गृहीते कुशस्थले (कनौज)], मौखरि नगर जैसा ही वर्णन है। फिर भी यह सम्भव है, और कुछ लोग ऐसे हैं जो इस मत को ग्रहण करते हैं, कि कनौज, जहाँ मालवा के राजा ने राज्यश्री को कारागर में रक्खा था, मालवा के राज्य का एक भाग था। मौखरि कनौज के राजा नहीं थे इसका अनुमान इस बात से भी किया गया है कि उनके सारे शिलालेख कनौज से बहुत दूर मगध (बिहार प्रान्त) में पाये गये हैं। तथापि इस के विपरीत उनके सिक्कों के प्राप्तिस्थान विचारणीय हैं, जो सब शीलादित्य (हर्ष) और प्रतापशील (प्रभाकर-वर्धन) के सिक्कों के साथ साथ फ़ैज़ाबाद के ज़िले में कनौज के पास किसी एक स्थान में पाये गये थे। डाक्टर मार्क कालिन्ज़् ने (अपने Geographical Data of Raghuvaṁśa and Daśakumāracharita में) यह समाधान करने की चेष्टा की है कि, अवन्तिवर्मा और ग्रहवर्मा कनौज के राजा थे पर मूल मौखरि राज्य सम्भवतः अंग देश में था।

दुर्व्यवहार ! यह क्या हरिण सिंह के केश पकड़ना चाहता है, मेंढक विषधर कालसर्प के थप्पड़ मारना चाहता है, गाय का बछड़ा बाघ को बन्दी बनाना चाहता है !' तुरन्त उसने हर्ष को निम्नलिखित आदेश दिया—' सब राजा और हाथी तुम्हारे पास रहें। केवल भण्डि लगभग दस हज़ार अश्वारोहियों को लेकर मेरे साथ चले। [हर्ष० १८४] यह कहते हुए उसने तुरन्त कूच की दुन्दुभि बजाने की आज्ञा दी। किन्तु हर्ष, जो इस घटना के कारण कम उद्विग्न नहीं हुआ था, अपने भाई के पीछे रहने की आज्ञा को आसानी से अपने हृदय में स्थान न दे सका और उसने उससे बड़े आग्रह से प्रार्थना की कि इस आज्ञा को रद् कर दें। अपनी

---

१ इस प्रकार हम भण्डि को अपने पिता के विरुद्ध युद्ध करने के लिए जाता हुआ देखते हैं। पर अपने पिता से बिछोह की लम्बी अवधि में पिता और पुत्र के बीच अनिवार्यतः स्नेह शिथिल हो गया था उसे देखते हुए यह स्थिति बहुत आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होगी। हमें याद रखना चाहिये कि भण्डि को उसके पिता ने सन् ५९३ ई० में विदेशी दरबार में भेज दिया था जब वह केवल आठ वर्ष का लड़का था और वहाँ प्रभाकरवर्धन उसको अपना 'तीसरा पुत्र'–[हर्ष० १३५] समझता था और स्वयं राजकुमार उसे अपना 'अपर भाई'–[हर्ष० १३५] मानते थे। आश्चर्य नहीं कि इस स्नेह ने, जिस के साथ भण्डि एक विदेशी दरबार में लगभग बारह वर्ष से पल रहा था, उसके उस प्रेम को परास्त कर दिया हो जो उस को अपने पिता के प्रति होना चाहिए था।

इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि युआन च्वाँग ने भी भण्डि का उल्लेख बाणि नाम से हर्ष के दरबार के प्रमुख पुरुषों में किया है। बाण और युअन च्वाङ्ग का यह मेल बड़ा मार्मिक है, इस से बाण कृत आख्यायिका अर्थात् हर्षचरित्र की ऐतहासिकता की पुष्टि होती है।

अभ्यर्थना की पुष्टि में उसने निवेदन किया कि सामन्तों को वश में रखने के लिये पीछे रहना अनावश्यक है, क्योंकि वे सब 'आपके गुणों से बँधे हुए हैं', और युक्तियां देते हुए कहा—'यदि आप समझते हैं कि दो का जाना असामयिक है तो यह काम मुझको सौंपकर मुझे अनुगृहीत कीजिए।' अन्त में अपने सिर को धरती पर रखकर वह अपने भाई के चरणों में गिर पड़ा। तब ज्येष्ठ भाई ने उसे उठाकर यह कहते हुए सान्त्वना दी कि 'हरिण को मारने के लिए सिंहों का समूह में निकलना अत्यन्त हेठी की बात है; अतएव अपने चित्त को ग्लानि दूर करके घर पर ही रहो।' इस प्रकार पीछे रक्खे जाने से हर्ष 'झुंड से भटके हुए जंगली हाथी की भाँति अकेला होने के कारण कठिनाई से अपना समय बिता सका।' [हर्ष० १८५]

शीघ्र ही हर्ष की बारी आई जब उसे अकेले एक गुरुतर विपत्ति का सामना करना पड़ा। एक दिन, जब वह दर्शन भवन में था, उसने अश्वारोहियों के एक कुन्तल नामी प्रधान अफ़सर और अपने भाई के प्रीति-भाजन को विषण्ण-वदन साथियों के साथ यह हृदयविदारक समाचार सुनाने के लिए हड़बड़ी से प्रवेश करते देखाः—'यद्यपि आपके भाई ने मालवसेना को अनायास ही हास्यास्पद सुगमता से छिन्न भिन्न कर दिया था तथापि गौडाधिप के मिथ्या उपचारों से विश्वास में आकर वह निःशस्त्र, विस्रब्ध और अकेला उसी के भवन में मारा गया [हर्ष०, १८६]।' युआन च्वाँग के साक्ष्य के अनुसार गौड-नरेश 'पूर्वी भारतवर्ष में कर्ण-

---

१ हर्षचरित की एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार उसका नाम नरेन्द्रगुप्त मिलता है [देखिये एपिग्रोफिया इण्डिका भाग १ पृ० ७०] किन्तु हर्षचरित के टीकाकार के अनुसार उस का नाम शशाङ्क है [देखिये हर्षचरित का बम्बई वाला संस्करण, सन् १८९२, पृ० १९५]।

सुवर्ण का बौद्धधर्म-पीडक दुष्ट राजा शशाङ्कˈ. [वाटर्स कृत अनुवाद १ । ३४३] था, जिसने बोधि वृक्ष को जड़ से उखाड़ दिया था [हुएन० का जीवन पृ० १७१]। शिलालेख में उक्त घटना का वर्णन इस प्रकार है–'उसने युद्ध में देवगुप्त और अन्य सारे राजाओं का एक साथ ही दमन कर डाला और अपने वैरियों का मूलोच्छेद कर दिया; फिर वचनों पर विश्वास कर लेने के कारण (सत्यानुरोधेन) उसे शत्रु के घर में अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा।' इस प्रकार यह कथन प्रशंसनीय रूप से बाण के वृत्तान्त का समर्थन करता है। हर्षचरित के टीकाकार का कथन है कि शशाङ्क ने अधीनता और मित्रता के उपलक्ष में राज्यवर्धन को विवाह-विधि से अपनी पुत्री देने का प्रस्ताव करके उसकी मति हर ली। किन्तु शायद इस हत्या का वास्तविक प्रयोजन इस कौटिलीय अर्थशास्त्रीय नीतिवाक्य से अनुप्राणित हुआ होगा कि 'यदि किसी सीमान्त देश का शासक धार्मिक हो तो यह मातृ-राज्य का दुर्भाग्य है !' [बील, १ । २१०]

हर्षचरित के अनुवादक 'शशाङ्कमण्डलम्' पद में बड़ी विचक्षणता से राजा शशाङ्क का प्रच्छन्न निर्देश ढूँढ निकालते हैं । इस शशाङ्क का तादात्म्य गुप्त संवत् ३०० (अर्थात् सन् ६१९–२० ई०) के ताम्रपत्र के शशाङ्कराज से किया गया है, जिसने इस दशा में राज्यवर्धन की हत्या और हर्ष के अभिषेक के बाद कम से कम तेरह वर्ष राज्य किया होगा [देखिए–Ep. Ind., Vol. vi, p. 143]। हर्ष ने उस समय या तो अपने भाई के घातक के प्रति बौद्धोचित क्षमा दिखाई होगी या वह उससे बदला लेने में समर्थ नहीं था। देखो टिप्पणी स, अध्याय २ ।

१ गौडराजमाला में श्रीमान् ए० के० मैत्र यह अपूर्व उद्बोधन करते हैं कि राज्यवर्धन शशाङ्क के साथ खुली लड़ाई में लड़ कर मारा गया। वे हर्षचरित से यह दिखाने के लिए कुछ वाक्य उद्धृत करते

हर्ष के जीवन में इस स्थान पर युआन च्वाँग कुछ रोचक बातों का समावेश करता है जिनका उल्लेख बाण ने पूर्णतया नहीं किया । इस चीनी यात्री के अनुसार जब महाराज राज्यवर्धन के मरने पर कनौज का सिंहासन खाली हो गया तो "कनौज के राजनीतिज्ञों ने अपने प्रधान पुरुष बाणि की सम्मति से हत राजा के छोटे भाई हर्षवर्धन से राजा बनने के लिए सविनय प्रार्थना की। राजकुमार ने विनीत भाव से उसमें आपत्ति की' और तब तक 'उनकी प्रार्थना को मानने से आना कानी करता रहा' जब तक बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के द्वारा उसकी दुबिधा दूर न हो गई, जिन्होंने 'उसे गुप्त सहायता का वचन दिया किन्तु साथ ही यह चेतावनी भी दी कि वह साक्षात् सिंहासन पर न बैठे और महाराज की उपाधि को न धारण करे"। इस पर हर्ष राजपुत्र की उपाधि और शीलादित्य उपनाम ग्रहण करके कन्नौज का राजा बना [तत्रैव]। किन्तु हर्षचरित में, जहाँ इस उपाख्यान का भिन्न[1] विवरण दिया गया है, बोधिसत्त्व

हैं (जो यहां भी उद्धृत किये गये हैं) कि मालवा के राजा को आसानी से हराने के बाद राज्यवर्धन ने विजय की लूट को भण्डि के सुपुर्द किया और स्वयं एक परिमित सेना के साथ कन्नौज को प्रयाण किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसने अपने आप को उस कहीं बड़ी सेना से घिरा पाया जिसको लेकर मालवा के राजा का मित्र शशाङ्क अपने बङ्गाल के अन्तर्गत राज्य से चलकर उसे कनौज को जीतने में सहायता देने के लिए वहां आ पहुँचा था । इस प्रकार राज्यवर्धन को शशाङ्क के हाथ आत्मसमर्पण करना पड़ा, और शशाङ्क ने उसे जीवित छोड़ना उचित न समझा ।

१ बाण के अनुसार हर्ष के अभिषेक से भण्डि का नहीं प्रत्युत पुश्तैनी सेनाध्यक्ष सिंहनाद का सरोकार था । राज्यवर्धन की मृत्यु के

का स्थान 'राज लक्ष्मी' को प्रदान किया गया है 'जिसने उसको अपनी बाँहों में लिया और, उसके सारे अंगों में

समय भण्डि राजधानी से दूर था, क्योंकि वह भी मालवा के विरुद्ध उस के संग्राम में उसके साथ गया था, जिससे विजयी हो कर लौटते हुए रास्ते में विन्ध्याचल के पास हर्ष से उस की भेंट हुई थी जो वहां अपनी बहिन को ढूंढता हुआ फिर रहा था। सब कुछ दृष्टि में रखते हुए, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कभी कभी बाण चीनी यात्री की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय इतिहासकार ठहरता है।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि युआनचाँग तो रिक्त सिंहासन को अधिष्ठित करने में हर्ष की दुबिधा की चर्चा चलाता है परन्तु बाण के ज्ञान में ऐसी कोई दुबिधा गोचर नहीं होती। सी वी० वैद्य [Mediaeval Hindu India, Vol i, p.7] का विचार है कि यहां भी बाण की बात सही है और जिस 'दुबिधा का यहां निर्देश किया गया है वह कनौज के सिंहासन के सम्बन्ध में थी न कि थानेसर के, जिस के साथ चीनी पाथिक ने भ्रम से उसको मिला दिया है। अपने पति ग्रहवर्मा की मृत्यु पर, जो उस को कोई पुत्र नहीं छोड़ गया था, विधवा रानी राज्यश्री ही कनौज के सिंहासन की असली अधिकारिणी थी। इस प्रकार हर्ष 'कनौज के सिंहासन पर बैठने' और उसे अनधिकार अपनाने में सम्भवतः सहमत न हो सका, किन्तु, जैसा कि नीचे उद्धृत चीनी ग्रन्थ में कहा गया है, उस ने 'अपनी विधवा बहिन से मिल कर' शासन करना ही अधिक उचित समझा। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष के आधिपत्य में कनौज और थानेसर के दोनों राज्य मिला कर एक कर दिये गये, और वह भी अब अपने साम्राज्य के किसी अन्य स्थान की अपेक्षा कनौज में ही अधिकतर अपना केन्द्रस्थान रखता था। इस के अतिरिक्त यह भी अनुमान किया जा सकता है कि दोनों राज्यों की सेनाएं भी मिला दी गई होंगी, जिस से स्वभावतः हर्ष को अपनी दिग्विजय में सहायता मिली।

विद्यमान राज-चिह्नों को बता कर, उसे उसकी इच्छा न होते हुए भी सिंहासन पर आरूढ होने के लिए विवश किया—यद्यपि वह तपस्या का व्रत धारण कर चुका था जिस से कि वह विचलित भी नहीं हुआ [हर्ष० ७०]।' हमारे पास यह निर्णय करने के लिए कोई साधन नहीं हैं कि यह तपस्या का व्रत वास्तव में क्या था[1]। वैटर्ज़ (Watters) इसका यह अर्थ लगाता है कि हर्ष ने 'अपने जीवन के प्रारम्भ में बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया था और शायद भिक्षु अथवा कम से कम संघ का गृहस्थ सदस्य बन कर रहने का व्रत धारण कर लिया था।' किन्तु बाण के अनुसार हर्ष बौद्ध धर्म का अनुयायी अपनी विस्तृत विजयों को पूर्ण करने के बाद ही बना [हर्ष० पृ० २५६]। इस उल्लेख के सम्बन्ध में कि वह वस्तुतः सिंहासन पर नहीं बैठा हमें चीनी ग्रन्थ फाँगचिह में समाविष्ट यह कथन समीचीन मालूम होता है कि उसने अपनी विधवा बहिन राज्यश्री से मिलकर राजकाज चलाया [Watters, i-345]।

---

१ हर्ष चरित के टीकाकार शंकर कवि ने 'गृहीतब्रह्मचर्यम्' पद के सम्बन्ध में एक अनुश्रुति दी है कि जिस समय राज्यवर्धन के मारे जाने पर राजलक्ष्मी विचलित सी मालूम हुई उस समय हर्ष ने तप के भाव से प्रेरित होकर यह प्रतिज्ञा की—'यावन्मया न सकला जिता भूमिस्तावन्मे ब्रह्मचर्यम्।' अर्थात् जब तक मैं समस्त पृथ्वी को फिर से न जीत लूंगा, मैं ब्रह्मचर्य से रहूंगा। बाणभट्ट यही कहना चाहते हैं कि इसी ब्रह्मचर्य रूपी तप की दीक्षित अवस्था में राज्यलक्ष्मी ने हर्ष का आलिंगन कर लिया, अर्थात् वे राज्यलक्ष्मी के स्वामी बन गये जिसका भाव यह निकलता है कि ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा सम्पन्न हो गई। हर्ष की प्रतिज्ञा का उल्लेख बाण ने भी आगे चल कर किया है—'अस्माभिश्च......सकललोकमत्यत्तं प्रतिज्ञा कृता' (हर्ष०२५६)।

अध्याय २

युद्ध, विजय और आधिपत्य ।

अब तरुणवयस्क हर्ष के सामने दो काम थे–एक तो अपनी बहिन को ढूँढ लाना और दूसरे अपने भाई के घातकों को दण्ड देना । इस दोहरी विपत्ति के समाचार ने हर्ष को इतना उद्विग्न कर दिया कि 'जनमेजय की भाँति वह सब राजाओं को भस्म करने पर उतारू हो गया', [हर्ष० १८७] जब कि उसके पिता के मित्र सेनापति सिंहनाद ने यह कहते हुए और भी आग सुलगा दी कि 'अकेले गौडराज का ही चिन्तन न करें; ऐसा करें जिससे भविष्य में कोई दूसरा उसका अनुकरण न करने पावे,' और उसे परशुराम का दृष्टान्त देकर उकसाया, जिसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिये 'इक्कीसवार राजन्यवर्ग की सम्मिलित शक्ति को छिन्न भिन्न करके उसका मूलोच्छेद कर दिया था [हर्ष० १९३]। हर्ष ने अपने वृद्ध सेनापति की पुकार का समान उत्साह से उत्तर दिया—'मैं आर्य के चरणरज की शपथ करके कहता हूं कि यदि थोड़े ही दिनों में इस पृथिवी को गौड़ों से निःशेष न कर दूँ और उन सब राजाओं के जो अपने पापों से दुर्विनीत बन गए हैं पैरों में बेड़ियाँ पहना कर इस धरामंडल को झंकृत न कर दूं तो अपने इस पातकी शरीर को घी से भभकती हुई अग्नि में पतंगे की भाँति भस्म कर दूंगा [हर्ष० १९४] यह कह कर उसने महासन्धिविग्रहाधिकारी अवन्ति को आदेश दिया कि निम्नलिखित आशय की एक घोषणा लिखो—' सब राजा लोग कर देने अथवा शस्त्र ग्रहण करने के लिए, दिशाओं पर टूटने अथवा चँवर पकड़ने के लिए,

अपने हाथों को सज्जित कर लें, वे अपने सिरों अथवा अपने धनुषों को झुकावें, मेरी आज्ञा से अपने कानों को कृतार्थ करें या अपनी प्रत्यञ्चा ठीक करें, अपने मस्तकों को मेरे चरणों की धूलि से अथवा युद्ध के शिरस्त्राण से अलंकृत करें।' [हर्ष० १९४]

तब सम्राट् ने अपनी सारी गज-सेना के अध्यक्ष स्कन्दगुप्त[1] को अपने पास बुलाया और उसे दिग्विजय के लिए कूच की आज्ञा देते हुए ' [हर्ष० २००] चरने को बाहर गए हुए हाथियों के यूथों को लिवा लाने को कहा [हर्ष० १९७] अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करने में, सेनापति सिंहनाद की भाँति, स्कन्दगुप्त ने भी तरुणवयस्क राजा को सचेत करने के निज स्वत्व की उपेक्षा नहीं की। उसने कहा—' स्वामि-भक्ति के अनुरोध से मैं दो एक बातें निवेदन करना चाहता हूं......देव राज्यवर्धन के वृत्तान्त से दुर्जनों के दौरात्म्य का कुछ परिचय आपने प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार, देशों के वेश-भूषा, आहार व्यवहार की भाँति, लोगों के स्वभाव भी प्रति गाँव, नगर, प्रान्त, द्वीप, और दिशा में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अतएव स्वदेशाचारोचित हृदय की स्वाभाविक सरलता से उत्पन्न हुई इस विस्रब्धता को छोड़ दीजिए। प्रमाद-दोष से होने वाले अनर्थों की अनेकों वार्त्ताएं नित्य महाराज के सुनने में आती हैं।' फिर उसने हर्ष को ऐसे अनिष्टों की एक लम्बी सूची सुनाई, जिनमें अधिकांश पौराणिक कथाओं से, किन्तु कुछ इतिहास से भी लिये गए थे—उदाहरण के लिए मौर्य राजा बृहद्रथ की

१ दो शिलालेखों—कीलहॉर्न की सूची के नं० ४२८, ४२९—में भी इस कर्मचारी का उल्लेख किया गया है। ऐतिहासिक स्रोत के रूप में बाण ग्रन्थ की विश्वसनीयता का यह एक उत्कृष्ट प्रमाण है।

कहानी, जिसे स्वयं उसके सेनापति पुष्यमित्र ने धोखा देकर मार डाला था।' [हर्ष० १६६]। इस प्रकार हर्ष के राजभक्त कर्मचारियों ने उसके वंश के परम कल्याण के लिये उसके अन्दर नियमानुकूल दिग्विजय के विचार को प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त उसका साथ देने वाले सामन्त राजाओं के शील से भी उसे अपनी विजयों में प्रोत्साहन मिला, जिन्होंने अपने सामरिक आवेश में अपने आक्रमण-क्षेत्र का इस प्रकार चित्र खींचा—' वीरों के लिये तुरुष्कों का देश सिर्फ एक हाथ भर है। फ़ारस केवल एक बालिश्त है। शक-राज्य केवल ख़रगोश का पदचिह्न है। प्रत्याघात करने में असमर्थ पारियात्र देश में शिथिल यात्रा ही पर्याप्त है। दक्षिणापथ तो शूरता के मूल्य से सुलभ ही है।' जैसा कि हम देखेंगे यह भवकी, विशेष करके दक्षिणापथ के विग्रय में जहाँ सम्राट् को अपने जीवन में सबसे बड़ी मुंह की खानी पड़ी, पूर्णतया कार्य-रूप में परिणत न हुई।

इसके उपरान्त एक शुभ दिन में जब दिग्विजय के योग्य प्रयाण-मुहूर्त्त नियत किया गया था [हर्ष० २०२] राजा अपने बान्धवों और सामन्तों के साथ 'सत्ययुग की स्थापना करने के लिये इस प्रकार घर से निकला जैसे ब्रह्माण्ड से हिरण्यगर्भ।' इस यात्रा में उसका प्रथम विरामस्थल सरस्वती के निकट हुआ जहाँ से वह कटक में आया। वहाँ हंसवेग नाम का एक विश्वस्त सन्देशहर उससे मिलने आया, जिसे आसाम के नये नववयस्क राजा भास्कर वर्मा ने बहुमूल्य उपहार और मित्रता[1] का प्रस्ताव ले कर जिन्हें हर्ष ने स्वीकार

---

1 कुछ इतिहासकारों के अनुसार उनकी मित्रता चिरकाल से थी। इसकी अभ्यर्थना कामरूपेश्वर ने मगध के गुप्तों की शत्रुता से सुरक्षित रहने के लिए की थी, जिनमें से एक—महासेनगुप्त—ने सुस्थित-

किया, उसके पास भेजा था । फिर 'प्रमुख अंग रक्षकों की संरक्षता में एक अमूल्य उपहार-राशि अर्पित करके' उसने हंसवेग को विदा किया, और स्वयं 'शत्रु के विरुद्ध निरन्तर कूच करता हुआ आगे बढ़ा, यहाँ तक कि एक दिन उसने एक हरकारे (लेखहारक) से सुना कि भण्डि मालव-नरेश की सारी सेना को लेकर, जो राज्यवर्धन के बाहुबल से जीती गई थी, आ पहुँचा है और उसका शिविर बिल्कुल पास ही लगा हुआ है।' शीघ्र ही भण्डि केवल एक घोड़े को साथ लेकर और कतिपय कुलीन पुरुषों से परिवृत हो कर सामने आया और उसने हर्ष को उसके भाई की मृत्यु की सारी कहानी पूरी तरह कह सुनाई, और जब राजा ने अपनी बहिन का हाल पूछा तो उसने कहा—'महाराज, मैंने लोगों को कहतेहुए सुना है कि जब महाराज राज्यवर्धन का स्वर्गवास हो गया और गुप्त नाम के मनुष्य ने कान्यकुब्ज को ले लिया तो देवी राज्यश्री अपने बन्धम से निकल कर परिवार सहित विन्ध्य-कान्तार के अन्दर चली गई' [हर्ष० २२६] फिर हर्ष ने मालवा के राजा की सेना और भण्डि के ग्रहण किए और लाए हुए माल आदि का निरीक्षण किया जिसमें सहस्रों हाथी घोड़े, भाँति भाँति के आभरण और चँवर,

---

वर्मा नाम के एक राजा को पराजित किया था (फ्लीट का नं० ४२, अफसद शिलालेख), जो कामरूप के राजा भास्कर वर्मा का एक पूर्वाधिकारी समझा जाता है । किन्तु शिलालेखीय वर्णन के प्रसंग से यही अधिक सम्भव है कि यह सुस्थितवर्मा कामरूप के राजा का केवल समान नामधारी और वस्तुतः कनौज के अवन्तिवर्मा और ग्रहवर्मा का पूर्वज मौखरि था । यह फ्लीट का मत था (Gupta Inscriptions, Introduction, p. 15) जिसे बदलने का मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता । देखो टिप्पणी अ, अध्याय २ ।

सिंहासन, सेज और पीढ़े आदि सामग्री,[१] तथा बीजक [अन्दर की वस्तुओं के लेखे] सहित कोशकलश और मालव-नरेश के पैरों में पड़ी बेड़ियों वाले अनुचर सम्मिलित थे।' फिर लूट के साधन की देख रेख के लिये अध्यक्ष नियुक्त करके हर्ष मालवा के राजकुमार माधवगुप्त और सामन्त राजाओं को साथ लेकर अश्वारोहियों सहित अपनी बहिन का शोध लगाने के लिए रवाना हुआ और अपेक्षाकृत अल्प दिनों में ही विन्ध्यकान्तार में पहुँच गया। वहाँ हर्ष को आटविक सामन्त शरभकेतु[१] का लड़का व्याघ्रकेतु मिला जिस ने कि पहाड़ों के प्रत्येक कोने और प्रत्येक स्रोत से भली भाँति परिचित भूकम्प नामी विन्ध्य-सामन्त के भानजे निर्घात से उसकी मुलाकात कराई। निर्घात ने हर्ष का दिवाकरमित्र नाम के एक भिक्षु से साक्षात्कार कराया। यह भिक्षु हर्ष के बहनोई ग्रहवर्मा का बालपन का मित्र ही निकला। दिवाकरमित्र जन्म से वैदिक धर्म का अनुयायी और मैत्रायणी शाखा का अध्येता था, किन्तु बाद को वह बौद्ध हो गया था और उसने विन्ध्य-

---

१ प्रियदर्शिका नाटिका में आटविकों (जंगल के रहने वालों) का राजा विन्ध्यकेतु नामी जो पात्र है, उस की कल्पना सम्भवतः हर्ष ने अपने वास्तविक जीवन में प्राप्तपरिचय इसी आटविकराज के कारण ही की जान पड़ती है।

वह भी नाटिका की नायिका प्रियदर्शिका की विपदा में रक्षा करता है जिस प्रकार वास्तविक जीवन में हर्ष की विपद्ग्रस्त बहिन राज्यश्री की विन्ध्य सामन्तों ने रक्षा की थी। हर्ष के नाटक की कथावस्तु का उद्बोधन उस के पराक्रममय जीवन की आख्यायिकाओं से हुआ होगा। स्वयं विन्ध्यकेतु नाम की कल्पना वास्तविक विन्ध्य सामन्त शरभकेतु और उसके पुत्र व्याघ्रकेतु के नामों से हुई प्रतीत होती है।

कान्तार में अपना आश्रम स्थापित किया था । वह. स्थान शीघ्र ही विद्या और धर्म का बड़ा भारी केन्द्र बन गया और भिन्न २ सम्प्रदायों और वर्णों के विद्यार्थियों को आकर्षित करने लगा। हर्ष के अपने आने का कारण सुनाने पर भिक्षुओं में से एक ने उसे बतलाया कि मैंने आज ही सुबह अन्य स्त्रियों की टोली से घिरी हुई एक युवती को निराशा से चिता पर चढ़ती हुई देखा है, और उसने यह भी कहा कि मैं स्वयं गुरु जी के पास दौड़ा आ रहा हूँ कि वे हस्तक्षेप करें और उस स्त्री को चाहे हुए आत्म-घात करने से रोकें । इस समाचार से अत्यन्त संक्षुब्ध होकर हर्ष ने भिक्षु से प्रार्थना की कि मुझे तुरन्त ही उस स्थान पर ले चलो जहाँ वह स्त्री है; और वह सारे सामन्त राजाओं और दिवाकर मित्र को साथ लेकर पैदल ही उसके पीछे २ चल दिया । रोने बिलखने के कतिपय करुण क्रन्दनों का अनुसरण करते हुए वह किसी तरह राज्यश्री के पास पहुंचा, जो उस समय चिता पर चढ़ने की तय्यारी में मूर्च्छित हो रही थी, और उसने उसके ललाट पर अपना हाथ फेरा । इस संजीवनी-स्पर्श से वह अपनी मूर्छा से जाग उठी और उसने अपने भाई को पहिचाना, जिसने अपने हाथों से उसके मुँह को ढककर उसको ढाढ़स देने का यत्न किया । हर्ष ने किसी प्रकार हृदय के भावों के शान्त हो जाने पर राज्यश्री को आग से अलग किया और वह पास ही एक पेड़ के नीचे बैठ गई [हर्ष० २४०]। इसी बीच दिवाकरमित्र ने अपने एक शिष्य से पानी मँगाया जिससे दोनों भाई-बहिनों ने अपनी थकावट दूर की और फिर हर्ष ने अपनी बहिन से कहा—'वत्से, इन भदन्त को प्रणाम करो। ये किसी समय तुम्हारे पति के दूसरे हृदय थे और अब हमारे गुरु हैं ।' इसके उपरान्त दिवाकरमित्र ने राजा को एक मोतियों की माला भेंट की, और उसे विष

के प्रतीकारार्थ अगदतन्त्र की भाँति उस के कन्धे पर बाँध दिया। इस पर हर्ष ने उसकी दयालुता के लिए इस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रगट की—'मृत्यु-पर्यन्त मेरी यह देह बिना किसी दुविधा के आपके अर्पण है। अतएव आप उससे जैसा चाहें वैसा काम लेने में सर्वथा स्वतन्त्र हैं।' राज्यश्री उन महात्मा को अपने पति का मित्र जान कर उनकी ओर अधिक आकृष्ट हुई और अपनी भक्ति को इस प्रकार प्रगट किया—'भदन्त के आगमन ने ठीक उस समय मेरे मरने के संकल्प को रोका है जब वह पूरा होने ही को था; अत एव मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपनी इस विपदा में कषाय वस्त्र धारण करूं [हर्ष० २५३]' किन्तु मुनि ने उसकी सीधी भक्ति को, क्षणिक आवेग का परिणाम होने से, ग्रहण न करके उसे यह कहते हुए निषेध किया कि तुम्हें अपने धर्म संम्मत संरक्षक, गुरु अथवा पितृतुल्य भाई की इच्छा-अनुसार वर्तना चाहिए। हर्ष ने कहा—मैं इसके कषाय वस्त्र धारण के मनोरथों को उस दशा में स्वीकार कर सकता हूँ जब मैं खो कर पायी हुई अपनी इस प्राण प्यारी बहिन का कुछ काल तक प्रेम से लालनकर लूंगा और अपने शत्रुओं से बदला लेने के सत्संकल्प को पूर्ण कर चुकूंगा। 'जब मैं अपनी आयोजना को पूरा कर लूंगा, तो वह और मैं साथ ही कषाय वस्त्र धारण करेंगे'[हर्ष० २५६]।'

उस बड़े उद्देश्य की सिद्धि[१] पर ही राजा ने अब अपने समग्र ध्यान, शक्ति और साधनों को केन्द्रीभूत कर दिया।

---

१ हर्ष के पूरे जीवन चरित में से केवल इतने परिमित भाग का परिचय कराने के बाद बाणकृत हर्षचरित इसी प्रसंग पर समाप्त हो जाता है कि हर्ष और राज्यश्री दोनों फिर उसी स्थान में आ गये जहां से कि हर्ष राज्यश्री को ढूंढने निकला था।

अपने जीवन के प्रथम भाग में हर्ष को जिस विपत्तिसमूह का सामना करना पड़ा, उससे उसके अन्दर यह विचार प्रज्वलित हुआ कि मैं उस दुर्व्यवस्था[1] का मूलोच्छेद करूंगा जिसके कारण इस प्रकार के विप्लव सम्भव या उत्पन्न होते हैं। सारा देश छोटे बड़े अनेक जनपदों में बंटा हुआ है जिनके बीच में एक स्थान पर ध्रुव राजनैतिक प्रभुत्व का अभाव है। मैं इन बहुसंख्यक राज्य खण्डों को एक शासन की छत्र छाया में सूत्रबद्ध करके चिरकाल से लुप्त हुए चक्रवर्तित्व के परम्परागत क्षात्र आदर्श को अपने जीवन में पुनरुज्जीवित और प्रत्यक्ष करूंगा। इस प्रकार राजपुत्र शीलादित्य ने अपनी दिग्विजय की आयोजना का श्रीगणेश किया, जिसके लिए उसने ५,००० हाथियों, २०,००० अश्वारोहियों और ५०,००० पदातियों की एक विशाल सेना इकट्ठी की। किन्तु उसमें रथ सम्मिलित नहीं किये गये, जिन्हें उसने सम्भवतः व्यर्थ समझ कर छोड़ दिया। उसकी विजयों के विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं हैं। युआन च्वाँग के अनुसार उसने पहले 'पूर्व की ओर प्रयाण किया, और उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने उसकी आधीनता स्वीकार नहीं की और निरन्तर संग्राम करके छः वर्षों के अन्दर वह पाँच भारतों को अपनी शरण

---

१ छोटी छोटी रियासतों और उनके पारस्परिक युद्धों के अस्तित्व को हर्ष ने अपनी रत्नावली और प्रियदर्शिका नाटिकाओं में भी माना है। प्रियदर्शिका में अङ्ग और कलिङ्ग, कौशाम्बी और कलिङ्ग, और कौशाम्बी और विन्ध्य-राज्य के बीच युद्ध का वर्णन आता है; जब कि रत्नावली में कौशाम्बी और कोसल के बीच, जिस के राजा ने विन्ध्या चल के दुर्ग में जो उस के राज्य के अन्तर्गत माना गया है आश्रय लिया था, एक युद्ध का उल्लेख है।

में ले आया[1] ' [Watters, 343] । किन्तु हर्ष के संग्रामों में सबसे अधिक महत्व-पूर्ण गौड़-नरेश के विरुद्ध किये गए संग्राम के विषय में भी, जिसने उसकी दिग्विजय की भावना को जगाया था, हमें कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता। बाण हमें केवल यह बतलाता है कि हर्ष ने अपनी बहिन का शोध लगाने तक–जिस का वर्णन ही कवि को अधिक अभीष्ट था—भण्डि को उस संग्राम के सञ्चालन का भार सौंपा। एक स्थल पर [हर्ष० १७८] बाण परोक्ष भाव से इस संग्राम का निर्देश करता है जहाँ वह 'कलङ्कमय चन्द्र, शशाङ्क के उदय को गौड़-नरेश की उठती हुई शक्ति का द्योतक, 'लोहित सूर्यास्त' को शोणितमय युद्धों का, और 'घूँ-घू करने वाली मधुमक्खियों को' तीरों का द्योतक बखान करता है। एक और स्थल [हर्ष २१३] पर हमें 'आगामी गौड़ युद्ध का पूर्वाभिनय करने में तन्मयता से लगे हुए सवारों ' का दिग्दर्शन कराया गया है; किन्तु वह आगामी युद्ध कैसे लड़ा गया और उसका परिणाम क्या हुआ, इसकी कोई चर्चा नहीं की गई! बाण की आख्यायिका से हम यह भी मालूम करते हैं कि हर्ष ने सिन्ध के एक राजा को चूर कर दिया था ', और ' बर्फीले पहाड़ों के एक दुर्गम देश[2] से (जिससे

---

१ स्वराष्ट्र (पंजाब), कान्यकुब्ज, गौड़ (बंगाल), मिथिला (दरभंगा) और उड़ीसा ये -पांच भारत-अर्थात् भारत के पांच खंड कहे गये हैं। उड़ीसा हर्ष के साम्राज्य का अंग था यह बात जीवनी (Life p. 54) के इस वृत्तान्त से सूचित होती है कि हर्ष ने शास्त्राचार्य जयसेन को उड़ीसा के अस्सी बड़े बड़े नगरों का कर समर्पित करना चाहा; पर उसकी आत्मनिष्ठा इतनी बढ़ी हुई थी कि उसने इस राजकीय अनुग्रह को अंगीकार नहीं किया।

२ श्री० एटिंगहाउसन (हर्षवर्धन; पृ० ४७) के अनुमान में यह

शायद् नैपाल अभिप्रेत है) कर ग्रहण किया था [हर्ष० ६१], जब कि आसाम के राजा ने आरम्भ ही में उससे मैत्री की प्रार्थना की थी। उस की पश्चिमी विजयों में वलभी का राज्य सम्मिलित था। पहले 'वलभी-नरेश ने, जो महाराजाधिराज लोकविश्रुत हर्षदेव से हराया गया था,' गुजरात के राजा दद्दा द्वितीय से अभय की प्रार्थना की, जो स्वयं चालुक्य सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के अधीनस्थ दाक्षिणात्य राजतन्त्र से सम्बद्ध था, किन्तु बाद को हर्ष का सामन्त और इससे भी अधिक, उसका दामाद बनकर उसने अपने राज्य को वापिस पा लिया। इस रूप में वलभी-नरेश उन सभाओं में अपने ससुर के अनुयायिवर्ग में दिखाई देता है जिन्हें हर्ष कनौज और प्रयाग में करता था और जिनका वर्णन आगे किया जावेगा [इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में निरूपित भड़ोच के दद्दा का दान-पत्र, और अन्य लेख, xiii 70]। सम्राट् के इस दामाद का नाम ध्रुवसेन (ध्रुवभट्ट) द्वितीय दिया गया है [Watters, ii. 246]।

मालूम होता है पश्चिमी भारत में हर्ष के संग्रामों के फल-स्वरूप आनन्दपुर, कि-त अथवा (?) कच और (सु-ल-च

प्रदेश तुखारदेश का कोई भाग था। बाण ने जिस वाक्य का प्रयोग किया है वह यह है—'अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गाया गृहीतः करः।' अर्थात् परमेश्वर हर्ष ने दुर्गम तुषार देश की भूमि से कर ग्रहण किया अथवा परमेश्वर शिव ने तुषाराद्रि सम्भवा दुर्गा का पाणि ग्रहण किया।

१ पुलकेशी द्वितीय का एहोल शिलालेख बतलाता है कि 'उस के तेज से वशवर्ती हो कर लाट, मालव और गुर्जर मानो इस बात के शिक्षक बन गये कि शक्ति से वश में किये गये सामन्तों को कैसे बरतना चाहिये'। [एप० इं० भाग ६ पृ० १०]

अथवा सुरठ (सूरत) जैसी कुछ अन्य रियासतें उसके प्रभुत्व में आगई, जिनमें सब की सब युआन च्वाँग के भारतवर्ष में पहुँचने के समय मोल-पो[1] अथवा पश्चिमी मालव की सामन्त रियासतें समझी जाती थीं, जो पहले वलभी[2] के आधीन था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि नैपाल तक भी हर्ष की विजयों का या उसके राजनैतिक प्रभाव का प्रसार हो चुका था, जिसका आधार यह धारणा है कि उसका संवत् वहाँ प्रचलित था। किन्तु सिलवन लेवि इस

१ युआन च्वाँग के अनुसार उस की यात्रा के साठ वर्ष पूर्व मो-ल-पो शीलादित्य नाम के एक महाराजाधिराज के शासन में था जिस का तादात्म्य सिलवन लेवि ने वलभी घराने के बौद्ध शीलादित्य प्रथम, उपनाम धर्मादित्य, से किया है। इस यात्री ने वलभी में शीलादित्य के भतीजे ध्रुवभट्ट को भी राज्य करते देखा। इस प्रकार यह अनुमान निकाला जा सकता है कि शीलादित्य धर्मादित्य वलभी का भी मूल शासक था, जिस के साथ उस ने मो-ल-पो को मिलाया। ध्रुवभट्ट की पराजय के फल-रूप में ये दोनों राज्य हर्ष की प्रभुता के वशवर्ती हो गये।

२ वलभी की विजय को देखते हुए हर्ष के साथी राजाओं की यह कल्पना ठीक ही थी कि 'प्रत्याघात करने में असमर्थ पारियात्र (आधुनिक अरावली) देश में हल्की सी यात्रा ही पर्याप्त है' (बाण के <u>हर्षचरित</u> का उद्धरण जो पहले दिया जा चुका है; हर्ष० २१४। फिर भी यह निश्चित नहीं है कि इस नाम से बाण को कौन सा देश अभिप्रेत है, वलभी या राजपूताने का और कोई भाग। युआन च्वांग ने एक देश का निर्देश किया है जिसे वह पार्यात्र कहता है; जिस का तादात्म्य रीनो [Reinaud] ने बैराट् से किया है; जिस का राजा धार्मिक होने की अपेक्षा समरसाजित अधिक था [Watters, i. 300]

बात को नहीं मानते; वे बतलाते हैं कि नैपाल उस समय तिब्बत का सामन्त राज्य था, और हर्ष की मृत्यु के बाद उसके सिंहासन का अपहरण करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध कूच करने वाले चीनी प्रतिनिधि वाँग-ह्यू-सी को जब नैपाल ने मदद दी तो तिब्बत ने नैपाल का साथ दिया।

हर्ष की सामरिक विजयों का एक मात्र अपवाद उसकी

१ हर्ष की नैपाल-विजय के सम्बन्ध में निम्न-लिखित प्रमाण भी है। युआन च्वांग ने नैपाल के अंशुवर्मा का नवीन राजा की भांति उल्लेख किया है। उस के शिलालेखों की तिथियां संवत् ३४, ३६ और ४५ हैं। विश्वास किया जाता है कि अंशुवर्मा से प्रयुक्त और अन्य उत्तर-कालीन नैपाल शिलालेखों में (नं० ६–१५) प्रयुक्त संवत् उसका स्वयं अपना नहीं प्रत्युत श्री हर्ष का संवत् [६०६–०७ ई०] है, क्योंकि अंशुवर्मा के अपने और कुछ अन्य शिलालेखों में भी उसका वर्णन किसी अन्य अधीश्वर के ताबे केवल सामन्त अथवा महासामन्त के रूप में किया गया है। हर्ष संवत् उत्तरी भारतवर्ष में अत्यन्त विस्तृत रूप से प्रचालित था, इस बात का अलबरूनी साक्षी है। कोई दूसरा संवत् इस प्रसंग की कुल संगतियों को पूरा नहीं कर सकता। इस के अति-रिक्त नैपाल की वंशावलियों में एक निश्चित उल्लेख है कि अंशुवर्मा के सिंहासन पर बैठने से ठीक पहले विक्रमादित्य नैपाल में आया और वहां उस ने अपना संवत् स्थापित किया। यद्यपि विक्रमादित्य नाम और यहां उल्लिखित संवत् ग़लत हैं, तथापि इस कथन से सम्भवतः यह लक्षित होता है कि हर्ष ने नैपाल पर धावा किया और उस के परिणाम में वहां उस का संवत् ग्रहण किया गया। वी० ए० स्मिथ [Early History of India, 3rd ed., p. 341 n.] सिल-वन् लेवि के प्रतिकूल हर्ष की नैपाल-विजय के मत को स्वीकार करता है। अंशुवर्मा के हर्ष संवत् ३४ के शिलालेख से प्रगट होता है कि वह सन् ६४० ई० में जीवित था जब कि युआन च्वांग जो ६३७ से

दक्षिण की युद्ध यात्रा में हुआ। जैसा युआन च्वाँग ने वर्णन किया है [Watters, ii. 239], 'प्रतापी राजा शीलादित्य इस समय पूर्व और पश्चिम में धावा बोल रहा था, और दूर २ तक के देश उसका लोहा मान कर राज-भक्ति को शिरोधार्य कर रहे थे, किन्तु मो-ह-ल-च्च (महाराष्ट्र) ने अपने प्रतापी सम्राट् पुलकेशी द्वितीय की छत्रच्छाया में, जिसने हर्ष की उत्तरभारतीय विजयों से टक्कर लेने वाली अपनी विस्तृत विजयों से अपने आपको दक्षिण का सम्राट् बना लिया था, उसका वशवर्ती बनने से इनकार कर

६४२ तक भारतवर्ष में रहा उस का निर्देश एक हाल ही में हुए राजा के रूप में करता है। इस से जो अड़चन उपस्थित होती है उस का समाधान इस विवेचन से हो सकता है कि इस यात्री का साक्ष्य दूसरों से सुना हुआ था, क्योंकि उस ने स्वयं नैपाल की यात्रा नहीं की। हर्ष संवत् नैपाल में बरता जाता था इस बात का अनुमान शिवदेव के संवत् ११३ और ११९ के शिलालेखों से किया जा सकता है, जिस ने एक और शिलालेख (जयदेव के नं० १४३) के अनुसार आदित्यसेन की, जिस का पिता माधवगुप्त अफसद शिलालेख में [देखो Gupta Inscriptions] हर्ष का समकालीन बतलाया गया है, पोती से विवाह किया। अब विचारणीय बात यह है कि आदित्यसेन सन् ६७२ ई० के लगभग जीवित था (शाहपुर शिलालेख से तुलना करो, तत्रैव) और यदि हम उस का समय उस की पोती (जिस का नाम वत्सदेवी था) के समय से पचास वर्ष पूर्व मान लें तो उस का प्रजामाता शिवदेव सन् ७२० ई० के लगभग जीवित रहा होगा, और इस प्रकार ११३ और ११९ को उस के जीवन-काल की तिथियां मानने में उक्त शिलालेखों का निर्देश केवल हर्ष संवत् से ही हो सकता है (इस सम्बन्ध में के० एम० पन्निकर रचित श्री हर्ष को भी देखो)।

दिया। युआन च्वाँग की जीवनी में यह भी कहा गया है कि ये दोनों सम्राट् सचमुच लड़ाई में एक दूसरे से भिड़,— 'राजा शीलादित्य ने अपने कौशल और अपने जनरलों की अटूट सफलता का गर्व करते हुए, स्वयं आत्मविश्वास से परिपूर्ण होकर, अपने सैनिकों के आगे २ इस राजा से जूझने के लिये कूच किया, किन्तु वह उस पर अपनी धाक जमाने अथवा उसे अपना वशवर्ती बनाने में असमर्थ रहा' [Beal p. 147], यद्यपि उसने पांच भारतों से सेनाएं और सब देशों से जनरल इकट्ठा किये।' शायद इस विग्रह का कारण हर्ष की ही चढ़ाई थी, जिसका दिल वलभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय को परास्त करने के बाद अपनी विजयों को और आगे बढ़ाने और पुलकेशी द्वितीय से निपट देखने को ललचाया, क्योंकि पुलकेशी के राज्यों से होकर उसे अपनी विजयों के समय प्रयाण करना पड़ता था और उन में अबतक शान्ति के साथ बिना किसी रोक टोक के उसका दौरान होता रहा था। किन्तु हर्ष को क्या खबर थी कि विन्ध्याचल के उस पार उससे लोहा लेने को एक मुकाविले का शत्रु विद्यमान है, जो हर्ष की विजयों की टक्कर की अपनी विस्तृत विजयों के कारण उस का आक्रमण रोकने को पर्याप्त शक्तिशाली बन चुका है।

उत्तरी और दक्षिणी भारत के इन दो प्रतापी सम्राटों के पारस्परिक विग्रह का उक्त चीनी यात्री ने जो वर्णन दिया है उसकी पुष्टि शिला लेखों से भी होती है। इस प्रकार सन् ६३४ ई० के ऐहोल शिलालेख में, जिसमें कविरविकीर्ति अपने आश्रयदाता पुलकेशी द्वितीय के पराक्रमों का वर्णन करता हुआ निम्नलिखित शब्दों में इस घटना का निर्देश

से समृद्ध सामन्त-समूहों की मुकुट-मणियों की किरणों से अलंकृत थे, संग्राम में अपने भीमकाय हाथियों की धराशायिनी पंक्तियों से वीभत्स लगता हुआ पुलकेशी के आतङ्क से विगलित-हर्ष (निरानन्द) हो गया।'[1] इसी शिलालेख का २४ वां श्लोक सूचित करता है कि संग्राम-स्थली कहीं विन्ध्याचल और रेवा (नर्वदा) के तटों के जो पुलकेशी के साम्राज्य की उत्तरी सीमाओं को बनाते थे, आस पास रही होगी, जहां उसकी 'पृथु सेनाओं' ने अपना शिविर लगाया था और हर्ष को आगे बढ़ने से रोक दिया था [देखो Fleet's Dynasties of the Kanarese Districts, P. 350]। और भी कई शिलालेख हैं जिनमें पुलकेशी से सारे उत्तरापथ के प्रभु महिमाशाली श्री-हर्ष के हराये जाने का वर्णन है, जिसके फलस्वरूप पुलकेशी ने परमेश्वर की दूसरी उपाधि प्राप्त की[2] [Inscriptions nos. 401 and 404 in *Ep. Ind.*, Vol.V, Kielhorn's List and p. 202, and in *IA*, vi. 87, viii. 244, ix. 125, and xi. 68, जिन सब में प्रयुक्त सूत्र है—'समरसंसक्त-सकलोत्तरापथेश्वर-श्रीहर्षवर्धन-पराजयोपलब्ध-परमेश्वरापरनामधेयः']। एक दूसरा शिलालेख 'पुलकेशी-वल्लभ' के सम्बन्ध में है 'जिसने स्वयं अपने बाहु-बल से सारे शत्रु-राजाओं की सम्मिलित शक्ति का दमन कर दिया था [Ep. Ind. viii. 230 में श्रयाश्रय शीलादित्य का नौसारी वाला पटल], जबकि एक और

---

१ ' पतित-गजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः। '

२ सन् ६१२ ई० के हैदराबाद के दानपत्र के अनुसार पुलकेशी ने यह उपाधि सौ लड़ाइयाँ लड़ने वाले शत्रु-राजाओं (अथवा राजा) को हरा कर प्राप्त की थी [Fleet, *Dynasties*, p. 351 n.]।

शिलालेख में उसे 'उत्तरापथ के अधीश्वर हर्षवर्धन के साथ संग्राम करके विजय-ध्वजा को प्राप्त करने वाला' वर्णन किया गया है [*IA*, xiii. 74]।

पुलकेशी की सामरिक सफलता का श्रेय उसकी प्रजा के चरित्र और उसके शासन को था, जिन्हें चीनी यात्री ने इस प्रकार वर्णन किया है [Watters, ii. 239]—'देशवासी स्वाभिमानी और युद्धशील, उपकार को मानने वाले (कृतज्ञ) और अपकार का बदला लेने वाले, विपत्ति में आए हुओं पर न्योछावर होने वाले और जो कोई उनके साथ तिरस्कार पूर्वक बरतता था उसके प्राणों तक का घात करने वाले थे। संग्राम में सेना के अग्रभाग का संचालन करने वाले वीर योधा मदोन्मत्त होकर शत्रु से भिड़ते थे और उनके लड़ाई के हाथियों को भी युद्ध छिड़ने से पहले मदोन्मत्त किया जाता था। अपने वीरों और हाथियों की शक्ति के भरोसे पर राजा पड़ोसी देशों को तृणवत् समझता था······इस राजा का उदार शासन दूर दूर तक फैल गया था।' वस्तुतः उसकी धाक और शुहरत भारतवर्ष के अन्दर ही सीमित नहीं थी। एक अरबी इतिवृत्त के अनुसार फ़ारस के द्वितीय राजा खुसरू के शासन के ३६ वें वर्ष में सन् ६२५ ई० के लगभग उसके और इस भारतीय सम्राट् के बीच परस्पर पत्र-व्यवहार और उपहारों का लेन-देन हुआ था। अजंता की एक गुफा के एक चित्र में किसी फारसी राजा से एक भारतीय राजा को पत्र मिलने की जो घटना दर्शायी गई है वह भी सम्भवतः इसी बात का निर्देश करती है [*JRAS* N. S., xi, pp 157, 165-7]

इस प्रकार भारतवर्ष की प्रभुता कुछ काल के लिए

वस्तुतः दो व्यक्तियों, हर्ष और पुलकेशी, के बीच बँटी रही।[1] चीनी यात्री के अनुसार युद्धों और विजयों के समाप्त होने पर हर्ष ने अपनी सेना को पराजित राज्यों के आक्रामक षड्यन्त्रों के प्रतिरोध के लिए बाढ़ की भाँन्ति विशाल और प्रबल बनाकर ऐसी स्थिति पर रक्खा जिससे शान्ति भंग न हो सके। उसने अपने हस्ति-बल को बढ़ाकर (जिससे पुलकेशी उसके ऊपर अपनी बड़ी भारी विजय को प्राप्त कर सका था) ६०,००० और तुरग-बल को १,००,००० कर दिया, और इस प्रकार के सैन्य-साधन से वह कोई हथियार उठाये बिना चालीस वर्ष तक शान्ति से शासन करने में[2] समर्थ रहा [Watters, ii. 343]। इस प्रकार यह मानना

---

१ पुलकेशी द्वितीय को उसके यक्केरी शिलालेख में [Ep. Ind v, p. 8] निश्चित रूप से 'दक्षिणापथपृथिव्याः स्वामी' अर्थात् सारे दक्षिण देश का अधीश्वर कहा गया है।

२ हर्ष के राजत्व—काल और उसकी विजयों की तिथियों को नियत करने में युआन च्वान के इस कथन का उसके इस दूसरे कथन के साथ विचार करना उचित होगा कि हर्ष 'निरन्तर संग्राम करते रह कर छः वर्ष के अन्दर पांच भारतों को अपनी आधीनता में ले आया।' जैसा कि वाटर्ज़ ने कहा है, 'उसे ऐसे राजा के सदृश चित्रित करना जो तीस या छत्तीस वर्ष तक निरन्तर युद्ध करता रहा हो पाठ और प्रसंग के प्रतिकूल है।' यह देखते हुए कि सन् ६४२ ई० के लगभग राजा ने चीनी यात्री से यह बात कही थी कि वह तीस वर्ष और उससे भी अधिक समय से भारतवर्ष का अधीश्वर रह चुका था [Life, p 183], हम यह मान सकते हैं कि उसकी सारी विजयें सन् ६१२ ई० के लगभग समाप्त होगईं थीं और वह छः वर्ष पहिले (जो उसका विजय-काल था) सन् ६०६ ई० में राजा बना था, जो हर्ष संवत् का प्रथम वर्ष है। इस धारणा की इस बात से भी

पड़ता है उसका साम्राज्य आखिरकार शारीरिक बल के आधार पर ही अवलम्बित रहा।

अब हम हर्ष के राज्य-प्रभाव में आए हुए देशों से पृथक् उसके

पुष्टि होती है कि सन् ६४४ की वसन्त में जो पञ्चवार्षिक सभा की गई थी वह उसके राज्य-काल की छठी सभा थी [Beal, Life, p-184]। अतएव फ्लीट के साथ और विंसेन्ट स्मिथ के विपरीत Early History, p. 340, n.] इस परिणाम पर पहुँचना युक्तियुक्त है कि वलभी और पुलकेशी के साथ हर्ष की लड़ाइयाँ सन् ६१२ई के अन्दर हुईं। फ्लीट की युक्ति का आधार सन् ६१२ का हैदराबाद का दानपत्र है, जिसमें यह दिखलाया गया है कि तब पुलकेशी अपने आप को बादामि में पहले ही स्थापित कर चुका था, और इस लिए उस की शक्ति का यह दृढीकरण उस के उन संग्रामों और विजयों के [जिस में हर्ष की हार भी सम्मिलित है] बाद हुआ होगा जिन का वर्णन सन् ६३४ के ऐहोल के शिलालेख में किया गया है । यद्यपि हैदराबाद दानपत्र में हर्ष का नाम नहीं दिया गया है तथापि पुलकेशी ने उस के ऊपर अपनी विजय के कारण जो उपाधि प्राप्त की उस से सूचित होता है कि यह विजय उस समय से पहले ही निष्पन्न हो चुकी थी [Fleet, *Dynasties*, pp. 351 and 356] । इस से यह मानना आवश्यक नहीं कि हर्ष जैसे एक विस्तीर्ण साम्राज्य के शासक को आगे कोई संग्राम करने की जरूरत ही न हुई होगी । सन् ६४३ जैसे उत्तर काल में भी हम उसे दूरवर्ती कोंगोद (गनजाम) में एक सफल रणयात्रा से लौटते देखते हैं, जहां कम से कम सन् ६१६ तक उसका महान् प्रतिस्पर्धी शशाङ्क सम्राट् माना जाता था । [इस अध्याय की स टिप्पणी देखो]। और न हम इस बात को जानते हैं कि वह कितने काल तक शशांक को दमन करने की कोशिश में लगा रहा । इस के अतिरिक्त हमें पुलकेशी द्वितीय के ऐहोल शिला-

वास्तविक शासन के अन्तर्गत देशों को बतलाने की कोशिश करेंगे। इस में कोई सन्देह नहीं कि प्रभुता का क्षेत्र 'प्रभाव के क्षेत्र' अथवा आधिपत्य से कम विस्तृत होता है। किन्तु तत्कालीन इतिवृत्तों में कभी कभी प्रत्यक्ष शासन को उस शक्ति और प्रभुता के साथ गड़बड़ा दिया गया है जो किसी बड़े सम्राट् अथवा महाराजाधिराज के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से अधिक विस्तृत क्षेत्र पर निष्पन्न होती थी। जिस बात से यह अस्तव्यस्तता और भी बढ़ जाती है वह यह है कि ये प्राचीन साम्राज्य केन्द्रीभूत राष्ट्रों या एकवर्ती राज्यों के रूप में संगठित नहीं होते थे, किन्तु सदा ऐसे अनेक अनियतसंख्यक स्थानीय राज्यों से संयुक्त और बहुधा उन से मिलकर बने होते थे जो हर्ष जैसे किसी अधीश्वर के, जो निस्सन्देह अपने समय का सम्राट् था, आधिपत्य को स्वीकार करते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय साम्राज्यों की सीमाओं को निर्धारित करने की समस्या उन विशेष पद्धतियों से सम्बद्ध है जिनके अनुसार हिन्दू राजनैतिक विकास साधारणतया अग्रसर हुआ। इसके अतिरिक्त हम प्राचीन भारत के इतिहास में समुद्रगुप्त जैसे महान् दिग्विजयियों के ऐसे अनेकों दृष्टान्तों से परिचित हैं जिनमें हम देखते हैं कि जब विजित राजा विजयी के आधिपत्य को स्वीकार कर लेते थे और उसके मित्र और पक्षपाती बन कर रहने का वचन देते थे, जिससे वे अपने अधीश्वर के

लेख से पता लगता है कि उसने भी कोशल और कलिङ्ग दोनों को जीत लिया था और इस प्रकार इस प्रदेश में, जो उस युग में उपद्रवों का केन्द्र था, उसका हर्ष के साथ उलझना सम्भव है। यह धारणा श्रीयुत आर० डी० बनर्जी की है [बंगला में बंगाल का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०६]।

युद्धों में उसका अनुसरण करने और अन्य प्रकार से उसे सहायता देने के लिए बाध्य होते थे, तो वह उनके राज्य उन्हें वापिस देकर फिर से प्रतिष्ठापित कर देता था। इस प्रकार महाराजाधिराज अपने ही राजनैतिक जगत् अथवा जैसा कि हिन्दू अर्थ-शास्त्र के निबन्धों में कहा गया है, अपने ही मण्डल[1] की सृष्टि करता था जिसका वह स्वयं केन्द्र या परम अधीश्वर होता था।

अत एव प्रारम्भ में हर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित और शासित देशों के चयन में हमें न केवल उन राष्ट्रों पर ही दृष्टि डालनी चाहिये जो उसने स्वयं प्राप्त किये थे अथवा जिन्हें जीत कर उसने अपने राज्य में मिला लिया था बल्कि उसके पूर्वाधिकारियों से अधिकृत देशों को भी देखना चाहिए। बाण ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है उन से यह अनुमान किया जा सकता है कि हर्ष के पिता महाराजाधिराज प्रभाकर वर्धन ने अपनी विजयों द्वारा गान्धार, सिन्धुदेश, हूणदेश, मालवा, गुजरात और लाट-देश जैसे अनेकों दूरवर्ती मुल्कों में अपनी धाक जमा ली थी। किन्तु हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इसका अभिप्राय यही है कि ये देश वस्तुतः प्रभाकर वर्धन के साम्राज्य में मिला लिए गये थे। हमें बाण से यह भी मालूम होता है कि इन वशीकृत देशों में से दो देशों ने उसके अन्तिम दिनों में विद्रोह किया था और उसके उत्तराधिकारी राज्यवर्धन को फिर से उनका दमन करना पड़ा था। ये हूणों और मालवों

---

१ मण्डल-सिद्धान्त (Doctrine of Maṇḍala) का अत्यन्त विशद विवेचन बी० के० सरकार कृत Political Institutions and Theories of the Hindus, Leipzig, 1922, में दिया हुआ है।

के देश थे। किन्तु साक्ष्य से यह स्पष्ट नहीं है कि इन देशों को राज्यवर्धन ने अपने राज्य में मिलाकर उन्हें अपने प्रत्यक्ष शासन के नीचे रक्खा था या नहीं । इस से आगे हर्ष की आधीनता में स्थित देशों के विषय में हमारे प्रकाश का प्रमुख स्रोत युआन च्वाँग है। उसके अनुसार गान्धार, जिस पर प्रभाकरवर्धन के प्रताप का आतंक छा गया था, अब कपिश के राज्य (काफिरिस्तान) की अधीन रियासत था [Watters, 1. 123]। कपिश-राज्य की अधीनता में 'दस से अधिक पड़ोसी देश' भी थे, इन रियासतों में लम्प (लघमन), नगर (जलालाबाद), और (कुरम नदी के प्रान्त में) फ-ल-न का नाम दिया गया है। कपिश-राज्य की भाँति काश्मीर भी इसी प्रकार का एक विशाल राज्य था जिस के अधीन बहुत से सामन्त राज्य अर्थात् सिंहपुर, उरस्, तक्षशिला, राजपुर और पुनच (पन्नु–त्सो) थे। उत्तर में तीसरा बड़ा राज्य चे–क था (जिसमें साकल नगर था), जिसके आधीन मुलतान और पो-फ-तो (पर्वत) की रियासतें थीं। युआन च्वाँग के कहने के ढंग से हमें सम्भवतः यह अनुमान निकालना पड़ता है कि ये राज्य हर्ष के राष्ट्र की सीमाओं से बाहर थे, किन्तु इन राज्यों में से दो, कपिश और काश्मीर के राजा कम से कम बौद्ध-धर्मी होने के कारण उसके धर्म-बन्धु थे । कपिश का राजा, हर्ष की भाँति, मोक्ष-परिषद् भी करता है, ' जिनमें वह दीनों को दिल खोलकर दान देता था,' और उसके मुल्क में एक सौ से भी अधिक महायान विहार थे [Watters, i. 123]। हर्ष की भाँति वह भी युआन च्वाँग के सत्संग का इच्छुक था, जिसकी वापिसी यात्रा में वह उसकी रक्षा के लिए कुछ दूर तक उसके साथ गया [तत्रैव, ii. 269] । काश्मीर

का राजा भी बड़ा भक्तिनिष्ठ बौद्ध था; और हर्ष की भाँति चीनी यात्री को बहुत मानता था जो उसे धर्म ग्रन्थों को पढ़कर सुनाता था और उनकी व्याख्या करके उनके अर्थ समझाता था और अध्ययन के उद्देश्य से दो वर्ष तक उसका पाहुना बनकर उसके यहाँ रहा। राजा ने 'उसे हस्तालिखित पुस्तकों को उतारने के लिए २० लेखक और उसकी टहल-बरदारी के लिए ५ आदमी दिये' [तत्रैव, i, 259]। युआन च्वाँग ने राजा का नाम नहीं दिया है, किन्तु राजतरंगिणी के अनुसार वह दुर्लभ वर्धन रहा होगा जिसने सन् ६०१ से ६३७ तक राज्य किया। जीवनी [Life] में जो यह उपाख्यान दिया गया है कि हर्ष ने काश्मीर के राजा को बुद्ध के एक स्मृति-चिह्न को देने के लिये विवश किया, उससे प्रगट होता है कि काश्मीर एक प्रकार से उसके आधिपत्य को स्वीकार करता था। बाण के कथनानुसार प्रभाकरवर्धन ने 'सिन्धु देश' को और स्वयं हर्ष ने 'हिम से आच्छादित पर्वतों के दुर्गम देश' को वशवर्ती बनाया था; और जैसा पहले कहा जा चुका है, इन पदों से काश्मीर भी अभिप्रेत हो सकता है।

युआन च्वाँग भारतवर्ष के दूसरे भागों के राज्यों का भी उल्लेख करता है जिन पर भिन्न २ राजाओं का शासन था और इस कारण जिन्हें हर्ष की प्रभुता से स्वतन्त्र माना जा सकता है। इस प्रकार उज्जैन, जझोति [चिह-चि-तो] और महेश्वरपुर में से प्रत्येक पर एक ब्राह्मण राजा शासन करता था; पार्यात्र (बैराट्) में एक वैश्य, दक्षिणी कोसल में एक बौद्ध और कु-चे-लो (गुर्जर) में भी एक बौद्ध राजा था। यदि अन्तिम स्थान गुर्जर था तो यह उल्लेखनीय है

कि बाण के अनुसार राजा प्रभाकरवर्धन, इन गुर्जरों के लिये आतङ्क रूप था। इस प्रकार पूर्व में हर्ष के साम्राज्य से विरुद्ध होकर उन्होंने पश्चिम की ओर फैलने की कोशिश की। पहले उन्होंने भड़ोच में दद्दा प्रथम (सन् ५२८) के आधिपत्य में एक वंश की स्थापना की। इस राजा के बाद जयभट्ट प्रथम और हर्ष का समकालीन दद्दा द्वितीय, जिसने उसके आक्रमण के विरुद्ध वलभी के एक राजा को अभय प्रदान किया, राज्य के अधिकारी बने। उनके फैलाव की दूसरी दिशा लाट लोगों के देश की ओर थी जहाँ उन्होंने, जैसा कि उनके सन् ६२९ और ६३९ के कैरा दानपत्रों से [*IA*, xiii. 88, also the Sankheda Charter of A. D. 595 (Ep. Ind. ii. 19)] मालूम होगा, सातवीं शताब्दी के मध्य तक अपने आप को पूर्णतया स्थापित कर लिया। जैसा पहले बताया जा चुका है, लाट लोग इससे पूर्व प्रभाकरवर्धन से वशवर्ती किये गये थे। दक्षिण की ओर गुर्जरों का प्रसार पुलकेशी द्वितीय के द्वारा रोक दिया गया, जिसके आधिपत्य को उन्होंने, जैसा ऊपर उद्धृत किये हुए ऐहोल शिलालेख से मालूम होगा, लगभग सन् ६३४ ई० तक स्वीकार कर लिया।

युआन च्वाँग सिन्ध के वर्णन में कहता है कि उस पर एक बौद्ध-धर्मावलम्बी शूद्र राजा शासन करता था। दूसरी ओर बाण हमें बताता है कि हर्ष ने 'सिन्ध के एक राजा को चूर कर दिया था।' यदि हम चचनामा पर विश्वास करें तो सिन्ध के ब्राह्मण-वंश से पहले, जिसे चच ने स्थापित किया और दाहिर ने विख्यात बनाया था, वहाँ वह खानदान राज्य करता था जिसका अन्तिम राजा साहासि राइ था जिसको ही लगभग सन् ६४१ में चीनी यात्री ने देखा होगा।

(हरद्वार के निकट) मतिपुर पर एक अबौद्ध शूद्र राजा शासन करता था और सुवर्णगोत्र पर (जिसके ठीक स्थान का पता नहीं) स्त्रियों का प्रभुत्व था। पूर्वी भारतवर्ष में मुंगेर एक पड़ोसी राजा के द्वारा जीता गया था और बौद्ध लोगों को समर्पित किया गया था और राजमहल (कजङ्गल) 'एक पड़ोसी राज्य की छाया में आ गया था।' किन्तु अन्यत्र युआन च्वाँग कहता है कि 'पूर्वी भारत की यात्रा में राजा शीलादित्य ने वहाँ अपना दरबार किया' जिससे सम्भवतः यही सूचित होता है कि अन्ततोगत्वा यह देश वस्तुतः हर्ष के अधीन था।

बंगाल में हर्ष के साम्राज्य की रोक एकमात्र गौड़ अथवा कर्णसुवर्ण के राज्य से हुई जो बौद्ध धर्म के विरोधी और उस के भाई के घातक राजा शशाङ्क के शासन में था। साक्ष्य से यह स्पष्ट नहीं है कि हर्ष शशाङ्क को दण्ड देने और उस के राज्य को वशवर्ती बनाने में समर्थ हुआ हो, क्योंकि पहले उद्धृत किये गये शिलालेख के अनुसार शशाङ्क सन् ६१६ में भी महाराजाधिराज के रूप में सर्वथा समृद्ध था। तथापि जैसा कि नीचे एक टिप्पणी में दिखलाया गया है, शशांक के बाद उसके राज्य को हर्ष के मित्र और सपत्नी कामरूप के राजा भास्करवर्मा की प्रभुता के सामने झुक कर आत्म-समर्पण करना पड़ा। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि युआन च्वाँग, जिसने सन् ६३६ और ६३६ के बीच किसी समय कर्णसुवर्ण की यात्रा की थी, उस समय शासन करने वाले किसी राजा के नाम का उल्लेख नहीं करता, जिससे हम श्रीयुत आर० डी० बनर्जी के साथ ['बंगला में बंगाल का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १०६], यह अनुमान निकाल सकते हैं कि, चूँकि उस समय तक कर्णासुवर्ण का पुराना राजा परलोक को

सिधार चुका था, यह प्रान्त हर्ष के साम्राज्य का अङ्ग बन गया।

फिर यह दिखलाने के लिए भी प्रमाण मौजूद है कि हर्ष का साम्राज्य उड़ीसा तक फैला हुआ था । जीवनी में उसकी कोंगोद अथवा गन्जाम की रण-यात्रा और उड़ीसा में शिविर डालने का उल्लेख किया गया है। इसी बीच में हर्ष ने वहाँ एक धर्मसभा की योजना करके अपने महायान बौद्ध धर्म का प्रचार करने की कोशिश की। इस सभा के लिए दूरवर्ती नालन्दा से बौद्ध विद्वान् बुलाये गए थे। उड़ीसा उसके साम्राज्य का एक प्रान्त था । यह बात इससे स्पष्ट है कि उसने, जैसा जीवनी में कहा गया है, उस भाग के जयसेन नामी सब से बड़े बौद्ध विद्वान् को "उड़ीसा के अस्सी बड़े नगरों का कर" समर्पण करना चाहा।

इस प्रकार यदि हम हर्ष के साम्राज्य से उन मुल्कों को भी अलग कर दें जिनके लिये चीनी यात्री दूसरे शासकों का उल्लेख करता है, तब भी उस के साम्राज्य के अन्तर्गत देश-विस्तार उस समय के उत्तर भारत के किसी भी दूसरे अकेले राज्य की अपेक्षा निःसन्देह कहीं बड़ा था। उसके अन्दर वस्तुतः सारा संयुक्त प्रान्त, बिहार और बंगाल का एक बड़ा भाग (केवल कर्णसुवर्ण को छोड़ कर), उड़ीसा और पंजाब राजपूताना, मध्य और पश्चिमी भारत के वे भाग शामिल थे जिन के लिए युआन च्वाँग ने दूसरे शासकों का उल्लेख नहीं किया है । उस के राष्ट्र की दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी रही होगी जिस के तट पर उस के और पुलकेशी द्वितीय के बीच बड़ा भारी युद्ध हुआ । किन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, हिन्दू राज-तन्त्र बहुत ज्यादा केन्द्रीभूत नियन्त्रण के अनुकूल नहीं था, प्रत्युत बहुत केन्द्रों में

विभक्त स्वायत्त शासन और प्रान्तीय स्वराज[1] ही उसके विकास के अधिक सम्मत थे। इस प्रकार हर्ष के प्रत्यक्ष शासन में रहने वाले देश के विस्तार से ही उसकी वास्तविक राजनैतिक स्थिति और उसके प्रभाव-क्षेत्र का सही अनुमान नहीं लग सकता। इस सम्बन्ध में जितनी भी मर्यादाएं सम्भव हो सकती हैं उन सब को मानते हुए भी, इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि हर्ष ने सारे उत्तरी भारतवर्ष के चक्रवर्ती सम्राट् बनने के गौरवमय पद को प्राप्त किया। तत्कालीन भारतीय लोक-मत[2] की यही सम्मति थी यह बात दक्षिण भारत के शिलालेखों तक में भी हर्ष के लिये 'सकल उत्तराधीश्वर' इस वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होती है। युआन च्वाँग भी इसी लोक-मत को पुष्ट करता है जो कि स्वयं उसकी आँखों देखी बात थी जब वह कहता है कि 'हर्ष ने पड़ोसी राज्यों को वशवर्ती बनाया तथा उन राज्यों पर धावा किया जिन्होंने उसकी शरण में आने से इनकार कर दिया

---

१ यहाँ जो मत ग्रहण किया गया है विन्सेंट स्मिथ ने भी उसीका प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार 'मालवा, गुजरात और सुराष्ट्र के अतिरिक्त हिमालय से लेकर नर्वदा तक गङ्गा की सारी तलहटी में (जिसमें नैपाल भी शामिल था) हर्ष की प्रभुता अबाध थी। हाँ, स्थानीय शासन छोटे राजाओं के हाथ में रहा। पूर्व में दूरवर्ती आसाम (कामरूप) के राजा ने भी सम्राट् की आज्ञाओं का पालन किया, और सब से परे पश्चिम में उसका दामाद वलभी का राजा सम्राट् के अनुयायिवर्ग में उपस्थित रहता था' [*Early History of India* 3 rd ed., p. 341]।

१ बाण हर्ष के लिए चक्रवर्ती, चतुरुदधिकेदार-कुटुम्बी, परमेश्वर, देवदेव और सारे महाद्वीपों का सम्राट्, इन साम्राज्योचित उपाधियों का प्रयोग करता है।

था' और अन्ततः 'वह पांच भारतों (स्वराष्ट्र, कान्यकुब्ज, गौड, मिथिला, और उड़ीसा) को राजभक्ति की छाया में ले आया'। दूर दूर तक के देश राजभक्ति का उपहार लेकर उसकी शरण में आ रहे थे।' केवल महाराष्ट्र ने 'उसका वशवर्ती बनने से इनकार कर दिया,' यद्यपि हर्ष ने सम्राट् की हैसियत से अपने अधिकारों के बिरते पर अपने शत्रु के विरुद्ध पाँच भारतों के सैन्य-दल और सब देशों से उत्तम सेनाध्यक्ष इकट्ठा किये।'

वस्तुतः हम उत्तरी भारतवर्ष में उसके प्रताप और प्रभाव के विस्तार और महिमा का अन्दाज़ा कतिपय सार-गर्भित लेख बद्ध बातों से लगा सकते हैं। कुछ अवसरों पर उसके साम्राज्य का फैलाव विजय और बल से नहीं प्रत्युत सन्धि और मित्रता के द्वारा हुआ। दूरवर्ती कामरूप (आसाम) के राजा ने स्वयं अपनी इच्छा से उसको प्रभुभक्ति की भेंट चढ़ाई, और जैसा कि बाण ने कहा है, वह अपने अधीश्वर के हाथ से राजपद पर अभिषिक्त हुआ। (अत्र देवेन अभिषिक्तः कुमारः, हर्ष० ६६)। हम उत्तरभारत या पंजाब के एक और राजा, जालंधर-नरेश उदितो के विषय में पढ़ते हैं जिसने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया; 'इस पर "मध्यभारत" के राजा ने उसकी निष्कपट भक्ति के बहुमान में उसे अखिल भारतवर्ष के बौद्ध धर्म-सम्बन्धी मामलों का सारा शासनाधिकार दे दिया' [Watters, i. 297] मध्य-भारत का राजा निस्सन्देह हर्ष था। जीवनी [*Life*, p. 90] के अनुसार जालन्धर के राजा को हर्ष ने चीनी यात्री को सीमान्त तक कुशलपूर्वक पहुंचाने का भार सौंपा था और इस काम के लिए जो सवारों का रक्षकवर्ग तैनात किया गया था, उसे उसको अधिष्ठाता बना कर

भेजा था। सम्राट् की हैसियत से हर्ष ने अपने हाथ से (कपास के बढ़िया सफ़ेद पट पर) लिखे हुए (और लाख से मोहर किये हुए) पत्र देकर रक्षक-वर्ग के साथ चार कर्मचारी पथप्रदर्शक भी नियुक्त करके भेजे, जिनके लिए सम्राट् का आदेश यह था कि वे इन पत्रों को उन उन देशों में देते जाँय जिनसे होकर वे यात्री को ले जाँय 'ताकि इन देशों के राजा लोग आचार्य को कुशल से ठेट चीन की सीमा तक पहुंचाने के लिए गाड़ियाँ अथवा वाहन के अन्य साधन प्रदान कर सकें' [तत्रैव]। इसके अतिरिक्त दूरवर्ती कपिश के राजा ने भी सम्राट् की इच्छा को शिरोधार्य किया, जिसने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रास्ते में चीनी यात्री को उसके घर लौटते समय स्वयं कुछ दूर पहुंचाया। इस प्रकार हर्ष का प्रभाव और उसका यश सारे उत्तरी भारत में और ठेट चीन की सीमाओं तक भी फैला हुआ था। उसके और चीनी सम्राट् के बीच परस्पर दूत-विनिमय हुआ था। सन् ६४१ ई० में चीनी दरबार को भेजा हुआ एक ब्राह्मण दूत सन् ६४३ में उत्तर लानेवाले एक चीनी प्रतिनिधि वर्ग के साथ वापिस आया। यह प्रतिनिधिवर्ग सन् ६४५ में चीन को लौटा, जिसके बाद वाँग-ह्यून-सी के अधिष्ठातृत्व में चीन से एक और प्रतिनिधिवर्ग आया, जो वहाँ से तीस अश्वारोहियों के रक्षण में भेजा गया था[1] [Smith's *Early History of India* 3 rd ed., p. 352]

---

१ हर्ष ने अपने समय में जो सर्वोपरि राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त किया था उसका एक प्रबल प्रमाण हर्ष संवत् की स्थापना भी है। कील-हौर्न हर्ष से सम्बन्ध रखनेवाले बीस शिलालेखों का उल्लेख करता है जिनमें नं० ५४२ और ५४४ अब विक्रम संवत् से सम्बन्ध रखने वाले साबित हुए हैं। शेष में से ग्यारह नैपाल में पाये गये हैं, एक

हर्ष के एकच्छत्र महाराजाधिराजानुकूल ठाट बाट और विधि विधान के सम्बन्ध में और भी वर्णन है। बाणभट्ट अपनी आखों देखा वर्णन करते हुए बतलाता है[1] कि कैसे मणितारा के पास अजिरवती नदी के (जिस पर श्रावस्ती स्थित थी) साथ साथ लगा हुआ शिविर 'प्रत्येक ओर से निर्जित शत्रुसामन्तों से भरा हुआ था' जिनमें से 'कुछ प्रवेश की आज्ञा न मिल सकने के कारण लज्जा से सिर नीचा किये हुए थे'। कुछ को दास्यभाव से सम्राट् को चँवर और खड्ग यष्टि नज़र करने की अनुज्ञा मिली, और 'परास्त होने में भी धन्यमानी' कुछ और सामन्त निरन्तर भिन्न भिन्न पारिवारिक प्रतीहारों के, जो समय समय पर बाहर आते और भीतर जाते थे और जिनके पीछे पीछे भाँति भाँति के सहस्रों प्रार्थी चलते थे, अनुयायी पुरुषों से पूछ रहे थे—"भद्र क्या आज हमारा प्रवेश हो जायगा? क्या परमेश्वर भोजन के बाद सभा-भवन में दर्शन देंगे, अथवा स्वयं बाह्य कक्षा में पधारेंगे?" इस प्रकार वे लोग दर्शन की आशा में दिन बिताते थे (हर्ष० ६०)। शत्रु-सामन्तों के अतिरिक्त दूसरे

मगध में, एक पंजाब में, और अन्य कनौज के आस पास। [देखो *Ep. Ind.* Vol. V.]

१ सम्राट् के पास जाने का बाण को यह दूसरा मौका था। मालूम होता है पहली बार के जाने में उसको कोई विशेष सफलता नहीं हुई उचित मङ्गलाचार (गमन-मङ्गल) के बाद, तड़के उसने प्रीतिकूट नाम के अपने जन्म-स्थान से प्रस्थान किया। पहले दिन वह चण्डिका-वन को पार कर के मल्लकूट नाम के गांव में पहुँचा, जहां से दूसरे दिन उसने भागीरथी को पार किया और रात को यष्टिग्रहक नाम की जंगली बस्ती में विश्राम लिया। अगले दिन वह हर्ष के स्कन्धावार (शिविर) में पहुँचा [देखिए हर्ष चरित्र पृ० ४७]

राजा लोग भी सम्राट् की टहल बरदारी में थे 'जो उसके वैभव को देखने के लिए वहाँ पधारे थे।' 'देश देशान्तर के रहनेवाले वहाँ विद्यमान थे जो उस समय की बाट जोह रहे थे जब महाराजाधिराज उनके दृष्टि-गोचर होंगे,' तथा जैन, आर्हत पाशुपत, पाराशरी मत के भिक्षु, ब्रह्मचारी, प्रत्येक देश के निवासी, अनेक समुद्रवर्ती जंगलों से आये हुए आटविक और सर्व देशान्तरों से आये हुए राजदूत वहाँ इकट्ठा हुए थे।' बाण हमें यह भी बतलाता है कि दूरवर्ती दक्षिणापथ से आन्ध्र और द्राविड़ लोग तक सम्राट् की राजधानी में आकर बसने के लिए आकर्षित हुए थे। हम पहले देख चुके हैं कि महाराजाधिराज के दरबार की एक स्थायी विशेषता उसके सामन्तों की उपस्थिति थे। जब राज्यवर्धन मालवा के विरुद्ध कूच करता है, वह हर्ष को सामन्तों के साथ पीछे रहने को कहता है; जब हर्ष अपनी बहिन को ढूंढने के लिए विन्ध्य-पर्वतों और कान्तारों के इर्द गिर्द भटकता फिरता है उस समय भी मालवा का राजा माधवगुप्त और सामन्त राजाओं का एक मण्डल उसके साथ था। फिर विन्ध्याचल के जंगलों में उसकी बहिन को ढूंढने में हर्ष को सहायता देनेवाला एक आटविक सामन्त था। हम पहले यह भी देख चुके हैं कि ये सामन्त राजा, जो सम्राट् के दरबार के उमरा और उसकी शान बढ़ाने वाले थे, अकेले ही नहीं किन्तु अपनी रानियों के साथ भी सदा राजपरिवार में जन्मोत्सव अथवा विवाह जैसे संस्कारों के अवसरों पर सेवा में उपस्थित रहते थे। आगे चल कर हम यह भी देखेंगे कि साम्राज्य के शासन-सम्बन्धी सब से ऊंचे पदों में से कुछ इन सामन्तों को दिये गए थे। चीनी यात्री जिसने घटनाओं को अपनी आँखों से देखा था, हमें यह भी बतलाता है कि कजुंघिर (आधुनिक काँकजोल, अर्थात् कानिंगहम के

अनुसार राजमहल) से कान्यकुब्ज तक की राजकीय यात्रा में आसाम का राजा कुमारराज अपने राज्य से अपने सारे अनुयायिवर्ग को लेकर [जिसमें २०,००० हाथी और ३०,००० जहाज़ थे (*Life*, p. 172)] सम्राट् के साथ गया था, और कन्नौज की राज सभा में 'पांच भारतों के अठारह[1] मुल्कों के राजा विद्यमान थे [*Life* p. 177] जब सम्राट् गङ्गा और यमुना के सङ्गम पर अपना छटी पंचवार्षिकी सभा करने के लिए कन्नौज से प्रयाग को गया तो यही अठारह राजा उसके अनुयायिवर्ग में उसके पीछे गए थे। आगे हमें यह भी बताया गया है [*Life*, p. 185] कि जब सम्राट् ने अपना तम्बू गङ्गा के उत्तरी तट पर लगाया तो उसके दो प्रीति भाजन सामन्त अर्थात 'दक्षिण भारत' (वलभी) के राजा और कामरूप के कुमारराज ने क्रम से सङ्गम के पश्चिम में और यमुना की दक्षिण तरफ़ अपने डेरे डाले। 'दूसरे दिन सुबह को शीलादित्यराज और कुमारराज के सामरिक अनुयायी जहाज़ों पर चढ़े और ध्रुवभट्टराज के परिचारक अपने हाथियों पर सवार हुए और इस प्रकार प्रभावोत्पादक समारोह से सज कर वे सभा के लिए नियुक्त किये हुए स्थान को चले। अठारह मुल्कों के राजा भी आज्ञा के अनुसार परिचारक वर्ग में आ मिले' [*Life*, p. 186] इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है [*Life*, p. 173] कि जब सम्राट् प्रयाण कर रहा था, उस के साथ कई सौ मनुष्य सुनहले ढोल लेकर चल रहे थे, जो उसके प्रत्येक पग के साथ डंके की चोट मारते थे—यह

---

१ सि-यु-कि में यह संख्या बीस कर दी गई है, जिसमें सम्भवतः अठारह राजाओं के अतिरिक्त आसाम और वलभी के राजा भी गिने गए हैं।

प्रतिष्ठा केवल उसके लिए सुरक्षित थी और कोई दूसरा राजा उसे ग्रहण नहीं कर सकता था।

पर सम्राट् का ठाट और उसका प्रताप केवल सामन्त राजाओं के ऊपर उसकी प्रभुता से ही नहीं बल्कि उसकी सेना से भी प्रगट होते थे, जिसके द्वारा वह सारे उत्तरी भारतवर्ष पर अपना आतङ्क जमाने में समर्थ हुआ था। आसाम के दूरवर्ती राजा ने, जब हर्ष ने उसके यहाँ ठहरे हुए चीनी यात्री को बुलवा भेजा, यह कह कर उसका मुकाबला करना चाहा कि महाराज मेरे सिर को चाहें ले सकते हैं किन्तु मेरे पाहुने को नहीं ले सकते। हर्ष ने चटपट उत्तर भेजा 'मैं सिर के लिए ही आपको कष्ट दूँगा', जिस पर कुमार ने अधीनता मान ली। सामन्त राजाओं को सीधा करने के लिए सम्राट् का एक शब्द पर्याप्त होता था। यह उसकी सेना थी जिसने साम्राज्य के अत्यन्त दूरवर्ती भागों में भी उसकी प्रभुता को मनवा दिया। जैसा हम देख चुके हैं उसने अपनी विजयों को ५०,००० पदातियों, २,००० अश्वारोहियों और ५,००० हाथियों की मूल सेना से आरम्भ किया [Beal, i. 213]; और उसके द्वारा उसने साम्राज्य को जीता तथा ६०,००० लड़ाकू हाथियों और १,००,००० अश्वारोहियों की बढ़ी हुई सेना के द्वारा जीते हुए राज्य का संरक्षण किया। बाण ने साम्राज्य की इस सेना के विषय में कुछ रोचक व्योरा दिया है। हाथी जो उसका प्रधान अङ्ग और शक्ति थे, सम्राट् को या तो कर या भेंट के रूप में मिले थे, या किसी राजदूत के साथ अथवा किसी जंगली बस्ती के सरदार से भेजे गये थे। उनमें से कुछ हस्ति-प्रदेशों के वनपालों से भी प्राप्त हुए थे। बाण के शब्दों में वे 'सारे महाद्वीपों को जीतने के लिए समुद्र को पाट कर पुल बनाने के निमित्त पहाड़ों की भांति इकट्ठा किये गये थे [हर्ष चरित्र

पृ० ५८] ।' सम्राट् के 'विक्रम-क्रीड़ा-सुहृद्, लाड़ले हाथी' का नाम दर्पशात था जो 'दिग्विजय की यात्रा में पी हुई सरिताओं को फिर से उँड़ेलता हुआ प्रतीत होता था।' सम्राट् के पास घोड़ों की भी एक बड़ी भारी पलटन थी। राजकीय अस्तवल मे वनायु, आरट्ट, कम्बोज, भरद्वाज, सिन्ध और फ़ारस आदि विभिन्न देशों से घोड़े लाकर रक्खे गये थे [हर्ष० ६२], जिनके सामने नीराजना विधि तथा गोविन्द की पूजा होती थी' और जो रक्षा के लिये नियुक्त प्रचण्ड चण्डालों की हुंकार से काँपते थे। हाथियों और घोड़ों के अधिकारि-वर्ग में जैसा कि बाण ने उल्लेख किया है, (१) कटुक (महावत), (२) नालिवाहिक (हाथियों का टहलबरदार या घसियारा), (३) वल्लभपाल अथवा अश्वपाल, (४) अनायत्त (साईस), (५) हस्तिपार्श्वरक्षी, और (६) घासिक (घास चोकर आदि देने वाले) सम्मिलित थे। हाथियों के लिये रणकौतुकों की योजना की जाती थी, जिन्हें करिकर्म कहते थे। बाण एक और रोचक बात यह बताता है कि सम्राट् की सेना में ऊँटों की वाहिनी या सेनाएं भी थीं। शिलालेखों में जहाँ कहीं 'हर्ष के विजयी शिविर' का निर्देश है वहां यही कहा गया है कि वह 'नावों, हाथियों और घोड़ों से परिपूर्ण था[1]।'

---

१ हर्ष के साम्राज्य के विस्तार के सम्बन्ध में यह उल्लेख करना उचित होगा कि हाल ही में मैसूर के शिमोग जिले में एक पुराना कन्नड़ भाषा का शिलालेख पाया गया है, जिसमें लिखा है कि 'जब दिशाओं को प्रचलित करने वाला, अत्यन्त प्रतापी, वीरों का पार्श्वकण्टक, शीलादित्य साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ,' उसका सेनानी पेत्तणि सत्याङ्क महेन्द्र की सेना के विरुद्ध लड़ते हुए समर भूमि में काम आया। मैसूर के पुरातत्त्व-विभाग के सञ्चालक डाक्टर आर० शामा शास्त्री का विचार है [Mysore, Arch. Rep. for 1923,

टिप्पणियाँ

अ—हर्ष के कुछ समकालीन राजाओं के विषय में

हर्ष के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले तीन नाम ऐसे हैं जिनका ठीक निर्णय अभी तक विवादग्रस्त है। ये नाम हैं-मालवा का राजा देवगुप्त, जो इस पुस्तक में उद्धृत किये हुए एक शिलालेख के अनुसार राजा राज्यवर्धन से लड़ाई में पराजित हुआ और मारा गया और मालवा के दो राजकुमार कुमारगुप्त और माधवगुप्त, जो हर्षचरित में शत्रुओं के रूप में नहीं किन्तु राजकुमार राज्य और हर्ष के बालसखाओं और सहचरों के रूप में आते हैं। बाद को कुमारगुप्त के विषय में कुछ सुनने में नहीं आता, किन्तु बाण के आख्यान में, हर्ष के भाई से मालवेश के हराए जाने के उपरान्त भी माधवगुप्त अन्य सामन्त राजाओं के साथ उसकी बहिन को ढूंढने के लिए हर्ष के साथ साथ भटकता फिरता है। अतएव हम यहाँ पर इस गुत्थी को सुलझाना आवश्यक समझते हैं कि किस तरह मालवा का एक राजकुमार तो हर्ष के दरबार में

---

pp. 8, 83] कि शायद यह 'शीलादित्य' शीलादित्य हर्ष से भिन्न व्यक्ति नहीं है जिसका आधिपत्य सम्भवतः इस प्रकार दक्षिण में शिमोग तक महेन्द्र के विरुद्ध फैल गया था। उनके अनुसार इस महेन्द्र का तादात्म्य तत्कालीन पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम से किया जा सकता हैं। परन्तु यह समझना आसान नहीं है कि ऐसी कौन सी युक्ति हो सकती है जिससे हर्ष ठेट दक्षिण के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित कर सका होगा, क्योंकि दक्खिन की उत्तरी सीमाओं पर उसके प्रतापी शत्रु पुलकेशी ने जैसा ऊपर मूल प्रसंग में आ चुका है, उसके दक्षिणी राज्य विस्तार के श्रीगणेश पर ही कुठाराघात कर दिया था।

मित्र भाव से रहता था, और उसी मालवा का दूसरा राजकुमार शत्रुभाव से प्रेरित होकर थानेश्वर वंश से सम्बद्ध कन्नौज के मौखरि घराने के विरुद्ध छापे मार कर हर्ष के घराने की प्रतिहिंसा का शिकार बना। इस विरोधाभास का समाधान हम केवल तीनों प्रस्तुत वंशों अर्थात् मालवा के गुप्तों, कन्नौज के मौखरियों, और थानेसर के वर्धनों के पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्धों की खोज करके ही कर सकते हैं। उनके इतिहास के स्रोत प्रायः दस शिलालेख हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सिक्के भी हैं जो देखने में मौखरि राजाओं के से जान पड़ते हैं, पर अभी तक इन सिक्कों के ठीक ठीक अर्थ का निर्णय नहीं हुआ है। फ्लीट के *Gupta Inscription* (Vol. iii of *Corpus*) में इन शिलालेखों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

१ आदित्यसेन का अफसद शिलालेख (नं० ४२)।

२ आदित्यसेन का शाहपुर की पाषाण प्रतिमा वाला लेख (नं० ४३)।

३ आदित्यसेन का मन्दार पर्वत शिलालेख (नं०४४ और ४५)

४ जीवितगुप्त द्वितीय का देव-बरणार्क शिलालेख (नं० ४६)

५ सर्ववर्मा का असीरगढ़ ताम्र मुद्रा लेख (नं० ४७)

६ अनन्तवर्मा का बराबर पर्वत गुफा वाला शिलालेख (नं० ४८)

७ अनन्तवर्मा का नागार्जुनी पर्वत-गुफा का शिलालेख (नं० ४६ और ५०)।

८ ईश्वरवर्मा का जौनपुर पाषाण लेख (नं० ५१)

९ हर्षवर्धन का सोनपत ताम्र मुद्रा लेख (नं० ५२)।

१० ईश्वरवर्मा के राज्य का हराहा शिलालेख (studied in *Ep. Ind.*, vol. xiv)। नं० १, ४, ५, और १० निम्न-

लिखित प्रकार से गुप्त और मौखरि राजाओं की परम्परा को स्थिर करने में सहायता देते हैं—

गुप्त राजा	मौखरि राजा
१ कृष्णगुप्त[1]	१ हरि वर्मा
२ हर्षगुप्त	२ आदित्यवर्मा उसकी पत्नी हर्षगुप्त की बहिन हर्षा
३ जीवितगुप्त प्रथम	३ ईश्वर वर्मा
४ कुमारगुप्त तृतीय	४ ईशान वर्मा
५ दामोदरगुप्त	५ शर्ववर्मा[2]
६ महासेनगुप्त	६ सुस्थितवर्मा
७ माधवगुप्त	७ अवन्ति वर्मा
८ आदित्यसेन	८ ग्रहवर्मा (जिसका उल्लेख बाण ने किया है किन्तु जो शिलालेखों में नहीं पाया जाता)।
९ देवगुप्त	
१० विष्णुगुप्त	
११ जीवितगुप्त द्वितीय	

---

१ बसाढ़ में मिले हुए एक चिकनी मिट्टी के ठप्पे से जिसमें गोविन्दगुप्त को ध्रुवस्वामिनी से उत्पन्न सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र बतलाया गया है, डाक्टर ब्लॉख ने अनुमान निकाला था कि गोविन्दगुप्त इस दूसरे गुप्त वंश के प्रवर्त्तक उपरोक्त कृष्णगुप्त से भिन्न

गुप्त वंश का तालिका के नं० १ से ८ तक के राजाओं का उल्लेख शिलालेख नं० १ में है और नं० ७–११ तक के राजाओं का उल्लेख शिलालेख नं० ४ में है। मौखरि सूची के नं० ८ का उल्लेख सिर्फ हर्षचरित में मिलता है, शिलालेखों में नहीं।

यह ध्यान देने की बात है कि स्वयं ये शिलालेख इन राजाओं के राज्य प्रदेशों के विषय में कुछ नहीं कहते। किन्तु वे गुप्तों और मौखरियों के पारस्परिक कुलक्रमागत विग्रहों के विषय में प्रकाश डालते हैं, जिसका वर्णन बाण ने भी यह कह कर किया है कि अवन्तिवर्मा का पुत्र कनौज का मौखरि ग्रहवर्मा, मालवा के एक गुप्त राजा के हाथ से मारा गया था। शिलालेख ग्रहवर्मा की चर्चा नहीं करते, किन्तु वे अवन्तिवर्मा का उल्लेख करते हैं जिसे बाण उसका पिता कहता है[1]। इस प्रकार बाण से हमें इन राजाओं के स्थान निश्चित करने में और उनके राजनैतिक सम्बन्धों को समझने में सहायता मिलती है।

व्यक्ति नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य वंश उसके दूसरे पुत्र कुमारगुप्त प्रथम के द्वारा आगे चला। किन्तु जैसा स्वयं डा० ब्लॉख ने नोट किया था, कृष्णगुप्त का सम्भाव्य समय चन्द्रगुप्त द्वितीय के किसी एक पुत्र के समय से नहीं मिलता। [A. S. R. Annual, 1903-4]।

२ हराहा शिलालेख में उसके सूर्यवर्मा नाम के एक भाई का उल्लेख है जो अपने पिता से पहले मर गया होगा या अपने भाई के बाद पैदा हुआ होगा और इस कारण सिंहासन का अधिकारी नहीं बन सका।

१ बाण ने मौखरि राजाओं के क्षत्रवर्मा नाम के एक पूर्वज का निर्देश किया है- जिस ने चारणों के प्रति अपनी अंधभक्ति की उमंग में कुछ ऐसे लोगों को आश्रय दिया जो उस के शत्रु के भेजे हुए चर थे और जिन्हों ने धोखा दे कर उस की हत्या की [हर्ष० १९९]।

बाण कहता है कि ग्रहवर्मा की हत्या करने वाला एक गुप्त राजा था और वह मालवे का शासक था, किन्तु वह उसका नाम नहीं बताता। पर हमें मधुवन लेख से मालूम होता है कि देवगुप्त नाम का एक गुप्त राजा राज्यवर्धन से हराया गया था और इसलिए हम देवगुप्त को ग्रहवर्मा का शत्रु मानते हैं। बाण ने राज्य और हर्ष दोनों के सहचरों के रूप में मालवा[1] के दो राजकुमारों, कुमारगुप्त[2] और माधवगुप्त के नाम लिए हैं, जब कि शिलालेख नं० १ केवल माधवगुप्त का उल्लेख करता है और उसे 'श्री हर्षदेव के साहचर्य का इच्छुक' वर्णन करता है इस प्रकार बाण और शिलालेख दोनों के कथन फिर एक दूसरे से मिल जाते हैं और इन राजाओं के प्रच्छन्न इतिहास पर नया प्रकाश डालते हैं।

यदि हार्नले के मतानुसार [*JRAS*, 1903] हम हर्ष

---

१ बाण का यह साक्ष्य इस बात को सिद्ध करने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है कि उत्तरकालीन गुप्तराजा- जिन की सूची ५१ वें पृष्ठ पर दी गई है, मगध के नहीं किन्तु मालवा के गुप्त राजा समझे जाने चाहिएं। ये गुप्त राजा माधवगुप्त से पहले तक ही मालवे में रहे- उस के बाद मगध में आ गये, जैसा कि आगे समझाया जायगा। उत्तरकालीन गुप्तवंश के विषय में अन्य बहुत से विद्वानों की जो धारणा है, हमारा यह मत उस से नहीं मिलता। पर वे लोग भी कभी कभी मालवा के एक गुप्तवंश की बाबत अनिश्चित अटकल सी लगा लेते हैं [उदाहरण के लिये बंगला में आर० डी० बनर्जी का बंगला का इतिहास, द्वितीय संस्करण; पृ० १०५]।

२ बाण का टीकाकार शंकर एक अनोखी वार्ता का भी उल्लेख करता है जिस में वह कहता है कि हर्ष ने मालावा के श्री कुमार (सम्भवतः इस कुमारगुप्त) को एक मतवाले हाथी के पंजे से छुड़ाया था [हर्ष० ४१]।

के मित्र माधवगुप्त को मालवा सूची में इसी नाम का नं० ७ वां राजा मानें तो हमें मालवा के इतिहास को निम्नलिखित प्रकार से सुलझाना होगा, —माधवगुप्त (और कुमारगुप्त) का बड़ा भाई देवगुप्त रहा होगा जो अपने पिता महासेनगुप्त के बाद मालवा के सिंहासन का अधिकारी बना होगा। मालवा का राजा बन कर उस ने अपने पुश्तैनी दुश्मन कन्नौज के उन मौखरियों को खदेड़ कर, जो कि गुप्त साम्राज्ज के छिन्न भिन्न हो जाने के बाद तथा यशोधर्म और बालादित्य के द्वारा हूणों के पछाड़ दिये जाने पर राजनैतिक प्रभुता के लिये दांव लगा रहे थे, अपने राज्य को फैलाने के प्रयत्न में अपने पूर्वजों का ही अनुसरण किया। मौखरियों की साम्राज्य-सम्बन्धी तृष्णा पहले पहल ईश्वरवर्मा में प्रगट हुई, जिसने शिलालेख नं० ८ के अनुसार अपनी विजयों को पश्चिम में धारा नगरी तक, तथा आन्ध्रों को खदेड़ने में विन्ध्य और रैवतक (गिरनार) पर्वतों तक फैलाया। इसी तरह ईशानवर्मा में भी यह तृष्णा बढती गई, जिसने शिलालेख नं० १० के अनुसार सिंहासन पर आरूढ़ होने से पहले भिन्न भिन्न प्रदेशों में, अर्थात् अन्ध्रों[1], शूलिकों[2] और समुद्रतट के गौड़ों[3] पर, तीन

१ शिलालेख नं० ८ में 'अन्ध्रेश्वर' का जो निर्देश है उस में हम उस को ईश्वरवर्मा की रणयात्रा के अवसर पर 'भय से नितान्त विह्वल और विन्ध्याचल की कन्दराओं में डेरा डालते हुए' देखते हैं। 'अन्ध्रसेना के योधा' का भी उस में जिक्र है।

२ सम्भवतः ये उस देश से सम्बद्ध थे जिस को बृहत्संहिता (xiv. 8) और मार्कण्डेय पुराण (lv) में शौलिक कहा गया है और जो, जैसा कि *Ep. Ind.* [xiv 112] में दिखलाया गया है; दक्षिण-पूर्व में कलिङ्ग, विदर्भ, चेदि इत्यादि के साथ साथ स्थित था। सम्भव है कि शूलिक और चालुक्य एक ही हों। हम कीर्तिवर्मा प्रथम

विजय और शिलालेख नं० १ के अनुसार एक चौथी विजय मालवा के राजा कुमारगुप्त पर प्राप्त की इन विजयों के उपलक्ष में ईशानवर्मा को महाराजाधिराज का पद प्राप्त हुआ, जो पद कि संग्राम में मारे गये मालावा के दामोदरगुप्त पर विजय पाने के कारण उस के पुत्र शर्ववर्मा को भी फबता था [लेख नं० ५ में इसे शर्ववर्मा मौखरि और नं० १ में केवल मौखरि कहा गया है]। किन्तु मालवा ने उस विजय के द्वारा इस अपमान का बदला लिया जो उस के अगले राजा महासेनगुप्त ने मौखरि राजा सुस्थितवर्मा[१] पर प्राप्त की, और इस विजय का यश दूर लौहित्य के तटों तक गाया गया[२]! किन्तु राज्यवर्धन के द्वारा देवगुप्त की जो हार हुई उस में मालावा की भाग्यलक्ष्मी अन्तिम पछाड़

नाम के एक ऐसे चालुक्य राजा को जानते हैं जिस ने अपनी विजयों को वङ्ग- अङ्ग- मगध आदि तक बढ़ाया [महाकूट स्तम्भलेख]।

३ क्या ये वही गौड़ तो नहीं हैं जिन का राजा कतिपय पीढ़ियों के पश्चात् हर्ष का दुर्दान्त शत्रु शशाङ्क था ?

१ कुछ इतिहासकार इस राजा को इस आधार पर कामरूप का इसी नाम का एक राजा मानते हैं कि कामरूप की नदी, अर्थात् लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) यहां महासेन गुप्त के विजयों की सीमा बतलाई गई है। किन्तु शिलालेख का विषय तो यह बतलाता है कि उस का सम्बन्ध उस की दूरवर्ती विजयों की अपेक्षा गुप्तों और मौखरियों के पारस्परिक युद्धों से अधिक है, और इस प्रकार सुस्थितवर्मा मौखरि हो सकता है। इस मत को डाक्टर एफ० डबल्यू टौमस ने (अपने Introductian to *Harsa-charita* translation में) और फ्लीट ने भी ग्रहण किया है।

२ लौहित्य तट पर उस के यशोगान का यह अर्थ नहीं है कि उस के वास्तविक विजयों की सीमा लौहित्य नद अर्थात् ब्रह्मपुत्र या

खा कर गिर गई, और इस के बाद जैसा कि बाण ने वर्णन किया है उस राज्य को हर्ष ने अपने साम्राज्य में मिला लिया।

यदि यह इतिहास सच्चा है तो हमें मानना पड़ता है कि मालवा में गुप्त राजाओं की कुल-परम्परा का देवगुप्त के साथ अन्त हो गया, किन्तु माधवगुप्त और उस के उत्तराधिकारियों के आधिपत्य में उस देश के एक और भाग में वह जारी रही जो शिलालेखों के स्थानों से लक्षित होता है। नं० १ गया ज़िले के अन्तर्गत अफसद स्थान से है, नं० २ बिहार से, नं० ३ भागलपुर से, और नं० ४ आरा से। यह भी एक साभिप्राय बात है कि नं० ४ में गुप्त राजाओं के केवल नये वंश की राजपरम्परा दी गई है जो माधवगुप्त से आरम्भ होती है। इस प्रकार यथार्थ बात यह प्रतीत होती है कि हर्ष ने अपने मित्र माधवगुप्त को अपने साम्राज्य के पूर्वी भागों का कार्य-भार सौंप कर उस के निर्वाह की व्यवस्था की, और हर्ष के मरने पर माधवगुप्त के शक्तिशाली उत्तराधिकारी आदित्यसेनदेव ने जिस की विस्तीर्ण विजयों ने उसे परमभट्टारक और महाराजाधिराज की एकच्छत्रीय उपाधियां ग्रहण करने और अपने सम्राट् पद के उपलक्ष में अश्वमेध रचने के लिये प्रेरित किया, साम्राज्य दीक्षित होकर गुप्त वंशी सम्राटों के लुप्त गौरव को कुछ अंश में पुनरुज्जीवित करके अपने प्रताप का अच्छा परिचय दिया। प्रस्तुत वृत्तान्तों के इस विवरण का समर्थन करने वाला एक प्रबल आधार हर्ष सम्वत् ६६ की

आसाम तक हो गई हो जहां के सुस्थितवर्मन् राजा को उस ने जीता हो। लौहित्य पूर्वीय भारत की सीमा थी, अतएव कविप्रथा के अनुसार दिग्दिगन्त में फैलने वाले यश को पूर्व में लौहित्य तट तक गीयमान कहा गया है।

तिथि, अर्थात् सन् ६७२ से उपलब्ध होता है जो आदित्यसेन के शिलालेख नं० २ अर्थात् शाहपुर पाषाण प्रतिमा वाले लेख के लिए दी गई है, क्योंकि यह तिथि हर्ष के मित्र और आदित्यसेन के पिता माधवगुप्त की तिथि से ठीक मेल खाती है। इतिवृत्तों को इस दृष्टि से देखने पर यह भी स्पष्ट है कि, चूंकि मगध के आदित्यसेन का मालवा के देवगुप्त के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं था, उसकी वंशावली[1] में, जैसी कि शिलालेख नं० १ में दी गई है इसके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। यह भी एक साभिप्राय बात है कि जब युआन च्वाँग मालवा या उज्जैन में आया उसने वहां एक ब्राह्मण राजा देखा जिसने इस दशा में उन गुप्तों का स्थान ग्रहण किया होगा जिनकी वंशपरम्परा का देवगुप्त के साथ अन्त हो गया था।

अब मौखरियों के सम्बन्ध में यदि हम उनके शिलालेखों के स्थानों को उनकी प्रभुता के विस्तार का सूचक मान सकें तो यह विस्तार शर्ववर्मा के आधिपत्य में सब से बड़ा था, जो नं० १ में अपने घराने का सब से अधिक विश्रुत वंशज होने के कारण केवल मौखरि कहा गया है, और नं० ४ और ५ में आरा से बुरहानपुर तक, जहाँ ये दो शिलालेख पाये गये थे, उसके शासन के होने का वर्णन किया गया है। इतनी दूर मगध तक मौखरि राज्य की विस्तार-सीमा का समाधान 'मौखरि घराने' के शार्दूल के पुत्र और यज्ञ-

---

[1] इस प्रकार की उपेक्षा की सब से बढ़िया मिसाल भितरी मुद्रा लेख है जो गुप्त से लेकर कुमारगुप्त द्वितीय तक एकच्छत्र गुप्तों की वंशावली देता है, किन्तु उस में स्कन्दगुप्त का उल्लेख नहीं है, क्यों कि उस की परम्परा का उसी के साथ अन्त हो गया था और उसका स्थान उस के भाई पुरुगुप्त के उत्तराधिकारियों ने ले लिया था।

वर्मा के पौत्र, अनन्तवर्मा के बराबर और नागार्जुनी पर्वत गुफा वाले शिलालेखों, नं० ६ और ७, से होजाता है कि कदाचित् मौखरियों का प्रारम्भिक निकास अङ्ग या विहार से रहा हो। अनन्तवर्मा ने सामन्तचूड़ामणि का पद प्राप्त किया, अर्थात् वह स्वयं राजा नहीं किन्तु सामन्त था। मौखरि घराने की यह नई प्राप्त राजनैतिक प्रभुता उन के सिक्कों में भी प्रतिबिम्बित होती है। उन के कुछ राजाओं के चलाये हुए सिक्के[1] पाये गये हैं, अर्थात् ईशानवर्मा के सिक्के जिन पर ५४, ५५ अङ्क पढ़े जाते हैं; शर्ववर्मा के सिक्के, जिन पर ५८, २३४ अङ्क हैं; और अवन्तिवर्मा के सिक्के, जिन पर ६७, ७१ और २५० ये संख्याएं पढ़ी गई हैं। अनुमान किया गया है कि तीन अङ्कोंवाली संख्याएं गुप्त संवत् के वर्षों के

१ इन सिक्कों के एक महत्त्वपूर्ण ढेर का वर्णन सन् १९०६ के रौयल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में आर० बर्न, सी० एस० आई०, आई० सी० एस० ने किया है उसमें नौ सिक्के ईश्वरवर्मा के, छः शर्ववर्मा के, और सत्रह अवन्तिवर्मा के थे जो पहले पहल उपलब्ध हुए थे। सिक्कों के अलावा मौखरियों ने मिट्टी के ठप्पे [Seals] भी चलाये थे जिनमें से दो नालन्दा में हर्ष के ठप्पों के साथ पाये गये हैं। इनमें से एक पर मूल लेख का एक अंश दिखाई देता है, जिसमें मौखरि वंशावली दी गई है जिसमें इस वंश के प्रवर्त्तक हरिवर्मा और उसकी पत्नी जयस्वामिनी के नाम पढ़े जा सकते हैं। दूसरे ठप्पे पर जो लेख अवशिष्ट है उसमें 'राजा ईशानवर्मा वर्णाश्रमधर्म के ज्ञान और प्रजा को सन्तुष्ट रखने (रञ्जितप्रकृतेः) में ख्यात' वर्णन किया गया है। दोनों ठप्पों के सिरों पर बांई ओर को चलते हुए एक सुन्दर ढले हुए बैल की तसवीर दिखाई देती है जिसके प्रत्येक पार्श्व में एक एक परिचारक है [Arch. Sur. Report, Eastern Circle, 1917-18 p. 44]।

लिए आई हैं; इस दशा में इन राजाओं की तिथियां सन् ५५३ और ५६६ के बीच पड़ेंगी[1]। ये तिथियां अवन्तिवर्मा के उत्तराधिकारी ग्रहवर्मा की ज्ञात तिथि से मेल खायेंगी, जो अपने पिता के जीवन-काल में हर्ष की बहिन को ब्याहा गया था और सन् ६०६ से पहले, जब हर्ष राजा बना, कन्नौज का राजा था। दो अङ्कों की संख्याओं का निर्देश किसी अन्य संवत् के वर्षों से होना चाहिए और इस सम्बन्ध में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि यह कहीं ५५३–५४= ४९९ ई० सन् से[2] आरम्भ होनेवाला मौखरि संवत् होगा,

१ हराहा शिलालेख का ६११ वर्ष विक्रम संवत् का वर्ष माना गया है और इसलिए ई० सन् ५५४ का तुल्यार्थक है। यह ईशानवर्मा की वही तिथि हुई जो उसके सिक्कों में भी दी गई है। मौखरि कालक्रम में यह शिलालेखों और सिक्कों के साक्ष्य का अपूर्व सामञ्जस्य है।

परन्तु ईशानवर्मा की सन् ५५३ की तिथि हमें इस स्थिति पर पहुंचाती है कि वह और उसका उत्तराधिकारी दोनों एक ही समय शासन कर रहे थे और अपने सिक्के चला रहे थे। कनिंगहम ने ईशानवर्मा का एक ऐसा भी सिक्का देखा था जिसकी तिथि २५७ = सन् ५७६ थी। इस प्रकार शर्ववर्मा से सम्बन्ध रखने वाली तिथियों को पढ़ने में अवश्य कुछ भूल हुई होगी [देखो *Ep.. Ind.*, xiv, 114]। एन० जी० मजुमदार ने हाल ही में छान बीन की है कि शर्व के सिक्कों पर के तिथियों के चिह्न 'पूर्णतया घिस' से गये हैं। अतएव उनका प्रमाणित वाचन असम्भव है [*IA*, 1917, p. 126]।

२ यहां आर्यभट्ट के महान् ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की तिथि और कलियुग के ३,६०० वर्षों का अवसान-काल है। इस कारण से भी सन् ५०० ई० में एक नये संवत् का आरम्भ सम्भव प्रतीत होता है [*JRAS*, 1906, p. 848]

जो ईश्वरवर्मा अथवा ईशानवर्मा का समय कहा जा सकता है जिसने गुप्त सम्राटों की देखादेखी इस संवत् को चलाया हो, क्योंकि गुप्तों के ही अनन्तर मौखरि राजा अपनी विजयों के द्वारा राजनैतिक प्रभुता के अधिकारी बने। मौखरि विजयों का श्रीगणेश ईश्वरवर्मा[1] के द्वारा हुआ था, जैसा कि उसके जौनपुर से मिले हुए शिलालेख, नं० ५१ से प्रतीत होगा जो नगर कि इस से पहले ही उसके अधिकार में आ गया होगा। जीवितगुप्त द्वितीय का देव बरणार्क वाला शिलालेख [पृ० ५० पर नं० ४] जो कि आरे से मिला, यह सिद्ध करता है कि सम्भवतः मौखरि शर्ववर्मा और अनन्तवर्मा का जो बालादित्य[2] की प्रभुता के उत्तराधिकारी थे, अधिकार क्षेत्र आरे तक था, क्योंकि जीवितगुप्त ने अपने लेख में नया दान पत्र लिखवाने के बजाय शर्ववर्मा और अनन्तवर्मा तथा बालादित्य के ही पूर्वप्रचारित दानपत्रों का

---

१ जैसा कि एन० जी० मजुमदार ने बताया है [*IA*, 1917 pp. 126–17], हराहा शिलालेख से स्पष्ट है कि ईशानवर्मा की विस्तीर्ण विजयें उसके पिता ईश्वरवर्मा के शासनकाल में प्राप्त की गई थीं, जो तदनुसार सम्राट् पद को प्राप्त करने वाला पहला मौखरि समझा जाना चाहिए [शिलालेख की १३ वीं पंक्ति देखो]।

२ शायद यह वही बालादित्य है जिसके विषय में युआन च्वाँग कहता है कि उसने मगध के हूण राजा मिहिरकुल को हराया और क़ैद किया, जो घटना सम्भवतः लगभग सन् ५२५ ई० में हुई। किन्तु यहां पर यह कह देना उचित होगा कि युआन च्वाँग के कथन में एक भारी संशय की बात यह है कि उसके अनुसार यह मिहिरकुल (सन् ५०२–३०) उसके समय से 'शताब्दियों' पहले हो चुका था। इस अयथार्थता के कारण बहुत से विद्वानों ने इस विशेष प्रसंग के सम्बन्ध में युआन च्वाँग के दिये हुए इतिवृत्त को किनारे कर दिया

फिर से दृढीकरण मात्र किया है। इसलिए जिस स्थान तक मौखरियों के प्रसिद्ध किये हुए दानपत्र के दृढीकरण की आवश्यकता एक बाद के राजा को प्रतीत हुई हो, उस स्थान पर पहले उन राजाओं का प्रभाव या अधिकार मानना युक्तिसङ्गत ही है।

उत्तरी भारतवर्ष की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति में पूर्वी मालवा के गुप्तों और कन्नौज के मौखरियों के अतिरिक्त डा० हार्नले [*JRAS*, 1903, p. 545] एक तीसरे विचार योग्य अङ्ग को प्रस्तुत करते हैं जिसे वे मालव साम्राज्य कहते हैं। इस मालव साम्राज्य का प्रवर्त्तक, मूलतः मालव जाति का एक सरदार और आरम्भिक गुप्तसाम्राज्य का सामन्त, जनेन्द्र यशोधर्म विक्रमादित्य था जो सन् ५३३ से पहले, जिस समय तक उसने गुप्त साम्राज्य को म्लेछों के अत्याचारों से मुक्त कर दिया था, हूणों पर अपनी प्रलयकारिणी विजय के द्वारा विख्यात हो चुका था। इस प्रकार उसने तत्कालीन गुप्त सम्राट् को (जो या तो भानुगुप्त होगा या बालादित्य) आसानी से बेदख़ल कर दिया, और अपने मन्दसोर स्तम्भ शिलालेख में वह यह भी प्रतिपादन करता है कि उसने केवल हूणों को ही नहीं जीता किन्तु एक ऐसे साम्राज्य को भी हस्तगत कर लिया था, जो गुप्त साम्राज्य से बड़ा था, यहाँ तक कि उसमें, जैसा कि राजतरङ्गिणी में कहा गया है [ii. 7; iii. 125, स्टाइन के नोटों सहित], काश्मीर भी शामिल था। उसने सन्

है। बालादित्य के विषय में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है उसको बढ़ानेवाली एक और बात यह है कि लगभग सन् ६०० के गुप्त शिलालेख नं० ७९ से तीन बालादित्य ज्ञात हैं, जिनमें से पहले को तिथि के आधार पर फ्लीट ने वही माना है जो युआन च्वाँग का बालादित्य है।

५३३ से ५८३ ई० तक पचास वर्ष का दीर्घ शासन किया और उसके बाद उसका पुत्र, मालवा का राजा, शीलादित्य साम्राज्य का अधिकारी बना, जो युआन च्वांग के अनुसार उसके आने से साठ वर्ष पहले अर्थात् ६४०—६०=ई० सन् ५८० के लगभग राज्य करता था। किन्तु शीलादित्य अपने यशस्वी पिता की भाँति शक्तिशाली और सफल शासक नहीं बन सका। राजतरङ्गिणी [iii. 330] में लिखा है कि उसको उसके शत्रुओं ने सिंहासन से च्युत कर दिया था, किन्तु बाद को काश्मीर के राजा प्रवरसेन द्वितीय ने, जो कलङ्की तोरमाण का पुत्र होने से हूण राजा जान पड़ता है, उसे उसके पिता के सिंहासन पर फिर से प्रतिष्ठापित किया [राजतरङ्गिणी ३, १०४–६]। इस प्रकार जब कि विक्रमादित्य ने हूणों से अपने देश का उद्धार किया, उसका पुत्र शीलादित्य सहायता के लिये उनका भिक्षुक बना !

अच्छा तो शीलादित्य के वे शत्रु कौन थे, जिनके विरुद्ध वह विजय न पा सका और उसने हूणों की सहायता के लिए याचना की ? ये लोग वे सारे पड़ोसी राजा थे, जो सहसोत्थित यशोधर्म के द्वारा साम्राज्योचित अधिकारों के अपहरण को नहीं भूले थे और इसके अलावा जिन्हें स्वयं इस प्रभुता के लिए अपने स्वत्वों को आगे बढ़ाने की लालसा थी। ये कन्नौज के मौखरि, थानेसर के वर्धन और पुराने एकच्छत्र गुप्त वंश की प्रशाखा, पूर्वी मालवा के गुप्त थे। पारस्परिक विवाह-सम्बन्धों ने उन्हें अपने सम्मिलित शत्रु मालव साम्राज्य और हूणों के विरुद्ध और भी कस कर एक सूत्र में बांध दिया था। जैसा कि नं० ५ में दिखलाया गया है, गुप्त राजकुमारी हर्षा मौखरि राजा आदित्यवर्मा को ब्याही गई थी, तथा एक और गुप्त राजकुमारी महासेन-

गुप्ता हर्ष के दादा आदित्यवर्धन को व्याही गई थी। [1]

शीलादित्य के विरुद्ध इस गुट्ट का मुखिया हर्ष का पिता प्रभाकरवर्धन था, जो अपने आपको इस कारण शीलादित्य का प्रतिस्पर्धी मानता था कि उसकी पत्नी, रानी यशोवती, यशोधर्म विक्रमादित्य की पुत्री थी। इस प्रकार यह मालवा के एकच्छत्र सिंहासन के लिए जामाता और पुत्र के बीच ऐंचातानी थी। इस संघर्ष के परिणाम का बाण ने [हर्ष० पृ० १२०] निर्देश किया है। प्रभाकर' मालव-लक्ष्मी-लता के लिए कुठार' था। साथ ही उसे मालवों के मित्र कहलाने वाले हूणों को भी सीधा करना था और इस कारण वह 'हूण-हरिण-केसरी' माना जाने लगा। शीलादित्य का पराभव इस बात से भी स्पष्ट है कि वह प्रभाकरवर्धन को अपना एक पुत्र समर्पण करने के लिए विवश किया गया था; क्यों-

१ हर्षा हर्ष की बहिन और महासेनगुप्ता महासेनगुप्त की बहिन थी इस सादृश्य के आधार पर हम फ्लीट के शिलालेख नं० ३५ में वर्णित भानुगुप्ता को सम्राट् भानुगुप्त (सन् ५०० ई०) की बहिन मान सकते हैं जिसका समय अपने भाई के समय से मिल जाता है। शिलालेख में भानुगुप्ता के पोते दत्त का समय जब वह मन्त्री था. सन् ५३३ दिया गया है। यदि हम यह मानें कि दत्त सन् ५१३ में पैदा हुआ था तो उसका पिता अवश्य सन् ४९५ में पैदा हुआ होगा और उसके पिता की माता भानुगुप्ता सन् ४९४ में उसके दादा रविकीर्ति को व्याही गई होगी। उस समय भानुगुप्ता का राजसी भाई भानुगुप्त स्वयं राजा नहीं था किन्तु सम्राट् बुद्धगुप्त (सन् ४७७-५००) की अधीनता में एक राजकुमार था। अन्त में यह सम्भव है कि सम्राट् बुधगुप्त भानुगुप्त और उसकी बहिन भानुगुप्ता दोनों का पिता रहा हो। यह धारणा कम से कम उनके कालक्रम के विरुद्ध नहीं है जैसा कि उसे यहां हल किया गया है।

कि बाण हमें बतलाता है कि 'यशोवती के भाई (अर्थात् सम्राट् शीलादित्य) ने तरुण राजकुमारों अर्थात् राज्य और हर्ष की परिचर्या के लिए अपने पुत्र भण्डि को, जो अभी लगभग आठ वर्ष की आयु का बालक था, समर्पण किया।' स्वयं भण्डि नाम संस्कृत नहीं प्रत्युत हूणों की भाषा जैसा है।

अब हम बाण से इस प्रथम मालव युद्ध का समय निकाल सकते हैं, जिस के परिणाम में शीलादित्य सिंहासन से च्युत किया गया। उस घटना के उपलक्ष में, जैसा कि बाण हमें बतलाता है, भण्डि का समर्पण राज्यश्री के जन्म-काल के लगभग किया गया, जो हमारी गणना के अनुसार सन् ५६३ में पैदा हुई थी (देखो टिप्पणी ब)

किन्तु प्रभाकर के इन पुराने शत्रुओं, अर्थात् मालवा और हूणों, ने उसके अन्तिम दिनों में उसे तङ्ग किया। उसे युवराज राज्यवर्धन को उत्तर दिशा में हूणों से जूझने के लिए भेजना पड़ा, जब कि शीलादित्य ने लगभग सन् ६०४ ई० में हूण राजा की सहायता से अपने खोये हुए सिंहासन को फिर प्राप्त करके, अपने पुराने शत्रु मौखरि और थानेसर के राजाओं के विरुद्ध प्रयाण किया, जिसका परिणाम हम पहले वर्णन कर चुके हैं। दूसरे मालव युद्ध का अन्त राजा राज्यवर्धन के द्वारा सन् ६०६ की ग्रीष्म ऋतु में किया गया। इस युद्ध में सम्राट् शीलादित्य का मित्र और पक्षपाती वह राजा रहा होगा जिसका नाम शिलालेख में देवगुप्त दिया गया है और जिसका बाण ने भी दो बार निर्देश किया है, एक बार 'गुप्त नाम' से [हर्ष० २२६] उस षड्यन्त्र के सम्बन्ध में जिसका राज्यवर्धन शिकार बना, और दुबारा 'गुप्त नाम के कुलपुत्र' [हर्ष० २४६] के रूप में। हम

देवगुप्त के स्थान का मालवा के राजाओं की सूची में पहले ही निर्णय कर चुके हैं।

इस प्रकार हार्नले के मत के अनुसार, जो प्रधानतया राजतरङ्गिणी के आधार पर स्थित है, मालवा का राजा, जिस के विरुद्ध प्रभाकर, उसका जमाई ग्रहवर्मा मौखरि और उसका पुत्र राज्यवर्धन लड़े, पूर्वी मालवा का राजा नहीं किन्तु ख़ास मालवा का राजा शीलादित्य था, जिसके पक्षपातियों में पूर्वी मालवा का देवगुप्त और गौड़ का राजा शशाङ्क विद्यमान थे। किन्तु केवल एक बात जो जल्दी ही इस मत से मेल नहीं खाती यह है कि ऊपर जिन शिलालेखों पर विचार किया गया है वे मालवा के बहुत से ऐसे गुप्त राजाओं को दर्शाते हैं जिनकी कन्नौज के मौखरि राजाओं के साथ पुश्तैनी दुश्मनी थी और उन शिलालेखों में इस दुश्मनी के सम्बन्ध में शीलादित्य का बिल्कुल नाम ही नहीं है। दूसरी बेमेल बात यह भी है कि मो-ल-पो (मालवा) के राजा शीलादित्य की, जिसका उल्लेख युआन च्वाङ्ग ने किया है, एकता सिलवन लेविने वलभी के उस बौद्ध राजा के साथ दिखलाई है जो शीलादित्य प्रथम धर्मादित्य नाम से विख्यात था। इस प्रकार मालवा के इतिहास का विवरण और विशेष कर के इस इतिहास और हर्ष के इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध का विवरण जैसा कि हार्नले से हल किया गया है, अभी कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। यह गड़बड़ कुछ हद तक पृ० ६७-६८ पर दी हुई तालिका से साफ़ हो सकती है, जिसमें उस समय के पृथक् पृथक् घरानों के राजाओं के काल-क्रम-सम्बन्धी और अन्य पारस्परिक सम्बन्ध दर्शाये गये हैं।

इन राजाओं के काल-क्रम को नियत करने में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(१) नं० तीन, चार, क, ७ और (ओ) संख्या के राजा समकालीन हैं; नं० तीन ने नं० ७ को हराया। नं० चार की ज्ञात तिथि से हम पीछे को अज्ञात की ओर गणना करते हैं।

(२) नं० दो, ६, और (ए) समकालीन हैं। नं० ६ ने, जिसे बाण ने मालवा का राजा निर्णय किया है, नं० दो के दरबार में उसके पुत्रों के सहचरों के रूप में अपने पुत्रों को भेजा।

(३) नं० एक के विवाह की तिथि सन् ५६५ यह मानने से उपलब्ध होती है कि उसका पुत्र प्रभाकरवर्धन अपनी १६ वर्ष की आयु में अर्थात् ५८३ ई० में राजा था।

(४) नं० ६ ने अपने पुत्रों को राज्य और हर्ष का सहचर बनने के लिए भेजा, जिनकी आयु सन् ६०० ई० में क्रम से १४ और १० वर्ष की थी। इस प्रकार नं० ६ का राजत्व-काल कम से कम सन् ६०० ई० तक माना गया है।

(५) नं० दो और (ऐ) समकालीन हैं और एक दूसरे के नातेदार हैं, जिनमें पहले ने दूसरे के पुत्र नं० (ओ) अर्थात् ग्रहवर्मा को अपनी पुत्री राज्यश्री ब्याही। यदि कट्टर हिन्दू आदर्शों के अनुसार राज्यश्री आठ वर्ष की आयु में ब्याही गई हो तो जैसा पहले दिखाया जा चुका है चूंकि राज्यश्री सन् ५९३ में पैदा हुई थी, नं० (ऐ) सन् ६०० तक जीवित रहा होगा।

[६] नं०(ऋ), (लृ), (ए), (ऐ) की तिथियां उनके सिक्कों और शिलालेखों से, जिन पर पहले विचार किया जा चुका है, ली गई हैं।

(७) नं० ४, ५, ६ की तिथियां ऋ, लृ, ए के साथ उनकी समकालीनता होने से प्राप्त की गई हैं।

(८) जैसा कि पहले समझाया जा चुका, है नं० १–७ पूर्वी मालवा के गुप्त राजा माने जाने चाहिएं:

(९) नं० क केवल तभी अर्थात् ६३० के बाद ही मगध

मालव सम्राट्

यशोधर्मन्
(सन् ५३३–८३)
|
शीलादित्य
(सन् ५८३–९३, सन् ६०४–५)

एकच्छत्र गुप्तसम्राट्†

कुमारगुप्त प्रथम (सन् ४१४)
|
स्कन्दगुप्त (सन् ४५५ ई०)
|
पुरगुप्त (सन् ४६७ ई०)
|
नरसिंहगुप्त (सन् ४६९)
|
कुमारगुप्त द्वितीय (सन् ४७३)
|
बुधगुप्त (लगभग सन् ४७७—५००)
|
भानुगुप्त
|
बालादित्य
} (लगभग सन् ५००–२८)

उत्तरकालीन गुप्तवंश

१ कृष्णगुप्त

२ हर्षगुप्त — हर्षगुप्ता जिसका पति हुआ
३ जीवितगुप्त प्रथम (सन् ५४०)
४ कुमारगुप्त तृ० (सन् ५५०) जिसको हरानेवाला हुआ
५ दामोदरगुप्त (सन् ५७५) ,, ,, ,,

मौखरि

(अ) हरिवर्मा
(इ) आदित्यवर्मा
(उ) ईश्वरवर्मा
(ऋ) ईशानवर्मा सन् ५५०
(लृ) शर्ववर्मा (सन् ५६०)

उत्तरकालीन गुप्तवंश | **मौखरि**

वर्धनवंश

महासेनगुप्ता ब्याही गई

६ महासेनगुप्त (सन् ६००ई०] ... ने (ए) सुस्थितवर्मा [सन्५६७] को हराया

(ए) अवान्तिवर्मा [सन् ६००ई०]

एक–आदित्यवर्धन को लगभग सन्५६५

क–माधवगुप्त [६३०-५०]

७ देवगुप्त [६००-५] ने (ओ) ग्रहवर्मा [सन् ६०५] को हराया और मार डाला

दो–प्रभाकरवर्धन ने यशोधर्म की पुत्री को ब्याहा [सन् ५८३–६०५]

ख–आदित्यसेन [सन् ६५०–७५]

तीन–राज्यवर्धन [सन् ६०५]

चार–हर्षवर्धन [सन् ६०६–४८]

(तीन, चार) क के मित्र

† इस कालक्रम की कल्पना पहले पहल श्रीयुत पन्नालाल आई० सी० एस० ने प्रस्तुत की थी और सब से सब उसे स्वीकार कर चुके हैं। यह क्रम प्रधानतया प्रत्येक राजा की सब से पहली और सब से पिछली तिथि पर जो अब तक प्राप्त शिलालेखों में या सिक्कों पर मिल सकी हैं, विचार करने से स्थिर किया गया है।

का राजा बन सका होगा जब उस प्रदेश से गौड़ का प्रभावशाली राजा शशाङ्क चल बसा होगा।

(१०) नं० ख् केवल हर्ष की मृत्यु के बाद, अर्थात् सन् ६५० के बाद, ही मगध का सम्राट् बन सका होगा।

(११) फ्लीट का शिलालेख नं० (४६), मगध की अधीश्वरता में, नं० ख् के पूर्वाधिकारियों में केवल नं० क् का ही नहीं किन्तु ऐ और लृ मौखरियों का और साथ ही परमेश्वर अर्थात् सम्राट् बालादित्यदेव का भी उल्लेख करता है, जो (बालादित्यदेव) सम्भवतः युआन च्वाँग का बालादित्य है जिसने हूण मिहिरकुल के विरुद्ध अपने मगध राज्य की रक्षा की और सन् ५२५ के लगभग और सन् ५३० से पहले, जब मिहिरकुल यशोधर्म से अन्ततः कुचला गया था, उसे कैदी बनाया। इस प्रकार हो सकता है कि बालादित्य गुप्त सम्राट् भानुगुप्त अथवा उसके उत्तराधिकारी, एकच्छत्र गुप्त वंश के अन्तिम राजा से कोई भिन्न व्यक्ति न हो।

इस सम्बन्ध में गुप्तों के उत्तरकालीन इतिहास पर दृष्टि डालना उचित होगा। सम्राट् बुधगुप्त [सन् ४७७–५००] का आधिपत्य मालवा से मगध तक था। उसका सामन्त सन् ४८५ में [फ्लीट नं० १९] यमुना और नर्मदा के बीच शासन करता था। उसके सन् ४९६ ई० के चान्दी के सिक्के बनारस में पाये गये थे। सन् ४७६ ई० का सारनाथ में मिली हुई पाषाण प्रतिमा का लेख बुधगुप्त का निर्देश उन भागों के एकच्छत्र सम्राट् के रूप में करता है, और दामोदरपुर में मिले हुए पहले और दूसरे ताम्र पत्रों में, जिनकी तिथि अनुमान से सन् ४८१ [*Ep. Ind.* xv. 135–6] निश्चित की गई है, इसी बुधगुप्त का आधिपत्य पुण्ड्रवर्धन [उत्तरी और पूर्वी बंगाल के कुछ भागों] पर वर्णन किया गया है। उसके बाद मालवा की राज्यलक्ष्मी तोरमाण [सन् ५००–२]

और उसके पुत्र मिहिरकुल[1] की [सन् ५०२-३०], जिसने कम से कम पन्द्रह वर्ष शासन किया, अधीनता में हूणों के हाथ में चली गई। सन् ५१० ई० में खोए हुए राज्य को वापिस लेने के लिए सम्राट् भानुगुप्त और उसके सामन्त मालवा के गोपराज ने कोशिश की किन्तु सम्भवतः उसमें सफलता न हुई [फ्लीट का नं० २०]। मालवा में हूण आधिपत्य की प्रामाणिकता फ्लीट के नं० ३६ और ३७ शिलालेखों से सिद्ध होती है।

इस तरह आखिरकार मालवा से साम्राज्याधिपति गुप्तों का आधिपत्य उठ गया। जैसा उपर कहा गया है, हूण शक्ति को मगध की ओर और आगे बढ़ने से रोकने का सफल प्रयत्न बालादित्य की ओर से हुआ।

मालवा में हूण प्रभुता का अन्त मालव के जनेन्द्र यशोधर्म ने उन विजयों के द्वारा किया जिनका उल्लेख फ्लीट के शिलालेख नं० ३३, ३४ और सन् ५३३[2] वाले नं० ३५ शिलालेख में किया गया है। उसने मालव सम्राट् के पद पर पचास वर्ष शासन किया और उसके बाद जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, उसका पुत्र शीलादित्य साम्राज्य का अधिकारी बना।

परिव्राजक महाराजा हस्ती और संक्षोभ जैसे क्षुद्र सामन्तों के सन् ५१८ और ५२८ के शिलालेखों से, जिनमें

---

१ मिहिरकुल के अभिषेक के लिए ५०२ तिथि हमें जैन प्रमाणों से उपलब्ध होती है, जिन्हें पाठक ने उद्धृत किया है [*Bhandarkar Commemoration Volume*, p. 217.]।

२ नं० ३५ का समय, जिसमें यशोधर्मन् के आधिपत्य का ज़िक्र किया गया है, सन् ५३३ है; अतएव उसकी विजयों का डंका इससे पहले, अनुमानतः सन् ५३० के लगभग, बज चुका होगा।

तत्कालीन गुप्त सम्राटों क नाम तो नहीं दिये गय किन्तु उनके शासन का सामान्य ज़िक्र किया गया है, मालवा में सम्राट् पदवीधारी गुप्तों की प्रभुता के अस्तित्व की कुछ प्रतिध्वनि सुनाई देती है[1] [*Ep. Ind.* viii. 284–7 और फ्लीट का नं० २५]। इस सब से यही स्पष्ट है कि यशोधर्मा सन् ५२८ के बाद तक सम्राट् नहीं बना।

लगभग इस समय के बाद से मालवा में हमें गुप्तों की कुछ भी चर्चा उस समय तक नहीं सुनाई देती जब तक कि मालवा के पूर्वी भागों में महासेनगुप्त [६०० ई०] और उसके पूर्वजों को हम शासनाधिकृत नहीं देखते। मालवा के गुप्त राजाओं के इस नये वंश का आविर्भाव सन् ५३३ के बाद यशोधर्म के आधिपत्य मे हुआ होगा। पहले दो राजा, कृष्णगुप्त और हर्षगुप्त को अपने शक्तिशाली शत्रुओं के विरुद्ध अपनी स्थिति को सुरक्षित करना पड़ा। क्या आश्चर्य है कि अफसद शिलालेख [फ्लीट के नं० ४२] का <u>दृप्ताराति</u> विशेष अभिमानी शत्रु, स्वयं यशोधर्म ही रहा हो। तीसरे राजा, जीवितगुप्त प्रथम, ने ठेट 'समुद्र-वेला' [<u>तत्रैव</u>] तक, अर्थात् गौड़ों पर अपनी धाक जमाई। दामोदरपुर के पांचवें

---

१ आर० जी० बासक [*Ep. Ind.* XV.] का मत है कि ये शिलालेख उच्चकल्प महाराज सर्वनाथ के समय तक, जो सन् ५३३ में गुप्त सामन्त वर्णन किया गया है, मध्यभारत में एकच्छत्र गुप्त शासन के जारी रहने का निर्देश करते हैं। उनका यह भी विचार है कि यद्यपि गोपराज सन् ५१० में लड़ाई में मारा गया पर भानुगुप्त नहीं हराया गया था, क्योंकि सन् ५१८ और ५२८ में भी उसी प्रदेश में एक गुप्त सामन्त विद्यमान था; और गुप्त प्रभुता का उच्छेद अन्ततः हूणों से नहीं किन्तु मालवा में यशोधर्म से और सुराष्ट्र में मैत्रक भटार्क से किया गया।

ताम्रपत्र लेख की तिथि गुप्त संवत् २२४ [२१४ नहीं जैसा कि प्रायः पढ़ा जाता है] अर्थात् सन् ५४३ है और उसमें पौण्ड्रवर्धन पर गुप्तों के आधिपत्य का निर्देश है। सम्राट् का नाम पढ़ने में नहीं आता, किन्तु वह या तो जीवितगुप्त प्रथम रहा होगा या उसका उत्तराधिकारी कुमारगुप्त तृतीय। एक प्राचीन लिपियों के विद्वान् ने उस मिटे हुए नाम को कुमार पढ़ा भी है [*Ep. Ind.* xvii. 193]।

परन्तु गौड़ों को गुप्तों से भी अधिक शक्तिशाली मौखरि राजाओं ने अपने आधीन किया; ये मौखरि मालवदेश के गुप्तनृपों के पूर्व की ओर राज्यविस्तार को रोकने में भी समर्थ हुए।

अन्ततः गुप्त और मौखरि दोनों ही हर्ष के साम्राज्य में विलीन हो गये।

फिर भी, मगध में गुप्त इतिहास माधवगुप्त से और विशेष करके उसके यशस्वी पुत्र आदित्यसेनदेव से पुनर्जीवित किया गया, जिस आदित्यसेनदेव ने अपने जीवनकाल में सम्राट् का पद प्राप्त करके अश्वमेध किया। बङ्गाल के भिन्न भिन्न भागों में अनेकों सोने के सिक्के पाये जाते हैं, जो नकली गुप्त सिक्के कहे जाते हैं और जिनकी उत्पत्ति मगध के इन उत्तरकालीन गुप्तों से बतलाई गई है जिनका 'प्रथम सम्राट्' यह आदित्यसेनदेव था। इन सिक्कों में कुछ ऐसे हैं जिन पर अश्वमेध दर्शाया गया है, और इसलिये जो न्यायानुसार उस गुप्त राजा के नाम पर लगाये जा सकते हैं, जिसने चोलदेश से लौटने के बाद अश्वमेध रचा। देवघर के शिलालेख [फ्लीट, पृ० २१३] के अनुसार आदित्यसेन ने अपनी विजयों के बाद एक मन्दिर बनाया जिसमें तीन लाख सुवर्णटङ्क खर्च हुए। टङ्क शब्द, जो चान्दी के सिक्कों के लिये इस्तेमाल होता था, यहां 'इन हल्के वज़न के सोने के सिक्कों'

के लिए प्रयुक्त किया गया है जो 'मगध के इन गुप्तों के समय में प्रचलित थे' और जो कि, जैसा श्रीयुत एन० के० भट्टसालि ने कुशलता पूर्वक बताया है, टंकक नाम से प्रसिद्ध थे। [*JASB*, NS, XIX. 1923, No. 6, pp. 57–64]।

ब–हर्ष और उसके पूर्वाधिकारियों के इतिहास की कुछ तिथियों के विषय में

हर्षचरित में कुछ ऐसी बातें हैं जिनका हार्नले ने हर्ष और उसके पूर्वाधिकारियों के इतिहास की कतिपय काफ़ी निश्चित तिथियों को निकालने में चतुराई से उपयोग किया है। समझने की बात यह है कि हूणों के विरुद्ध राज्यवर्धन की रणयात्रा, प्रभाकर की बीमारी और मृत्यु, राज्यवर्धन का राज्याभिषेक और उसकी मृत्यु, यह सारी घटनाएं एक वर्ष, सन् ६०५-६, के अन्दर घटित हुई। और जब राज्य हूणों के विरुद्ध भेजा गया था तो उसका यौवन अभी खिल ही रहा था क्योंकि, जैसा बाण ने लिखा है उसके दाढ़ी की जगह केवल 'हल्के बाल उग आए थे'। अतएव उस समय आयु अधिक से अधिक बीस वर्ष की रही होगी, क्योंकि उससे पहले उसको समान-वयस्क सखा के रूप में कुमार नाम का मालवा का राजकुमार प्राप्त हुआ था, जो उस समय अठारह साल का युवक था। राज्य और राज्यश्री के बीच छः वर्ष का अन्तर था, और राज्यश्री के जन्म के समय (जैसा कि मूल प्रसंग में समझाया गया है) हर्ष केवल लगभग दो वर्ष का था। इस प्रकार हम हिसाब लगा सकते हैं कि हर्ष सन् ६०६ ई० में सोलह वर्ष की आयु में राजा बना और सन् ५९० में पैदा हुआ था। इसी तरह राज्यवर्धन सन् ५८६ में और राज्यश्री ५९२ में उत्पन्न हुए। इस प्रकार सम्राट् विक्रमादित्य की पुत्री यशोवती के साथ उनके पिता का विवाह

सन् ५८५ से पीछे नहीं हो सकता, और चूँकि उसने सिंहासन पर बैठने के बाद शीघ्र ही विवाह कर लिया था, यह अभिषेक की घटना सन् ५८३ के लगभग हुई, जो सम्राट् विक्रमादित्य की मृत्यु और उसके बाद होने वाली गड़बड़ का समय है। इस प्रकार प्रभाकर ने सन् ५८३ और ६०६ के दर्मियान शासन किया। वह मालव के विरुद्ध दस वर्ष तक युद्ध करता रहा। जिसके फलरूप मालवे का राजा शीलादित्य पराजित और सिंहासन-च्युत होकर सन् ५९३ ई० में अपने पुत्र भण्डि को अपने शत्रु के अर्पण करने को बाधित हुआ। इसी वर्ष राजकुमारी राज्यश्री का भी जन्म हुआ। शीलादित्य ने सन् ६०४ ई० के लगभग मालवा के सिंहासन को वापिस ले लिया और तभी उसने अपने पुराने शत्रुओं के विरुद्ध कूच किया और अन्ततः दूसरे मालव युद्ध को छेड़ा जिसका परिणाम सन् ६०६ ई० में उसके और उसके वंश के लिए घातक सिद्ध हुआ।

यह उल्लेख करना उचित होगा कि तत्कालीन राजाओं की अन्य ज्ञात तिथियों से भी इस काल-क्रम की पुष्टि होती है। मौखरि राजा ईशानवर्मा की तिथि उसके सिक्के से सन् ५६५ सिद्ध की गई है, जब कि उनकी वंशावली की तुलना से प्रगट होता है कि वह प्रभाकर के पिता आदित्यवर्धन का समकालीन था।

स—शशांक (सन् ६००–२५ ?) और भास्करवर्मा

बाण शशाङ्क को गौड़[1] का राजा कहता है, और युआन

---

१ गौड़ लोग राजनैतिक शक्ति के रूप में पहले पहल सम्भवतः जीवितगुप्त प्रथम की विजयों के सम्बन्ध में प्रकट होते हैं, जैसा कि फ्लीट के नं० ४२ अफसद शिलालेख में वर्णन किया गया है, जिसमें लिखा है कि जीवितगुप्त की महाघोर प्रताप-ज्वाला ने समुद्रतटवर्ती

च्वाँग कहता है कि वह 'हाल ही में' [Watters, ii. 115] कर्णसुवर्ण का राजा और 'बौद्ध धर्म का पीड़क था [तत्रैव, i. 343], जिसने कुशीनगर और वाराणसी के वीच के बौद्ध विहारों को तोड़ डाला [तत्रैव, ii. 43], पाटलिपुत्र के उस पत्थर को गङ्गा में फेंक दिया जिस पर बुद्ध के चरण चिह्न दीखते थे [तत्रैव, 92], गया में बोधि वृक्ष को काट

शत्रुओं को भी दग्ध करने से नहीं छोड़ा। इसके अनन्तर सन् ५५४ के हराहा शिलालेख में ईशानवर्मा के द्वारा उनके दमन की चर्चा है, जहां उसका समुद्राश्रयी गौड़ों को अपनी मर्यादा के अन्दर रखने का वर्णन किया गया है। गौड़ इतिहास का अगला महत्वपूर्ण वर्णन फरीदपुर के चार ताम्रपत्र लेखों में (जिन्हें भिन्न भिन्न शताब्दियों के अक्षरों के मिश्रण के कारण श्रीयुत आर० डी० बनर्जी ने जाली माना है) आविर्भूत होता है; ये ताम्रपत्र गौड़ राजाओं के रूप में धर्मादित्य, गोपचन्द्र और समाचारदेव इन तीन राजाओं और साथ ही उनके राज्य के वारकमण्डल नामी प्रान्त में नियुक्त उनके स्थानीय शासकों और विषयपतियों के नामों का उल्लेख करते हैं [*JASB*, vii. 289–308; x. 425–37; *IA*, xxxix. 193–198]। चौथे ताम्रपत्र में समाचारदेव को महाराजाधिराज कहा गया है; और कलकत्ता अजायबघर में सुरक्षित दो सिक्कों से भी उसके अस्तित्व की प्रामाणिकता सिद्ध होती है, जिनमें लगभग सन् ५०७ ई० के अक्षरों में श्रीयुत एन० के० भट्टसालि के वाचन के अनुसार समाचार और पृष्ठ पर नरेन्द्रविनत अंकित है और साथ ही बैल की प्रतिमा भी बनी हुई है जिस लाञ्छन को कि बाद में शशाङ्क ने भी प्रयुक्त किया था [*JASB*, NS, xix. 1923, No. 6, p. 55]। इस प्रकार इसमें सन्देह के लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रह जाता कि समाचार देव गौड़ के राजा की हैसियत से शशाङ्क का पूर्वाधिकारी था।

डाला, पानी की तह तक उसकी जड़ों को नष्ट कर डाला और जो कुछ बच रहा उसे जला दिया [तत्रैव, 115], और बुद्ध की मूर्ति के स्थान पर शिवलिङ्ग की स्थापना करके वहां के बौद्ध मन्दिर को भ्रष्ट करने की चेष्टा की [तत्रैव, 116][1]। इस प्रकार यद्यपि शशांक कर्णसुवर्ण का एक राजा था, उसने उससे भी कहीं बड़े क्षेत्र पर अपनी धाक जमाई। फिर भी, यदि हम उसे रोहतासगढ वाले [Rohtasgarh Seal Matrix फ्लीट के नं० ७८] लेख का 'महासामन्त शशाङ्कदेव' मानें तो प्रतीत होता है कि वह आरम्भ में एक सामन्त मात्र था। शीघ्र ही उसकी शक्ति इतनी बढ़ी कि सन् ६०५ ई० में वह कन्नौज और थानेश्वर की दो शक्तियों के शत्रु गुप्त को पछाड़ने के लिये पूर्वी मालवा के राजा के साथ मिल गया[1]। शशाङ्क-मण्डल ने प्रधान राष्ट्र के रूप में प्रभाकर या मौखरि मण्डल को ग्रसना चाहा ! कुछ समय के लिये उसकी आयोजना सफल रही, कन्नौज छीन लिया गया, राज्यवर्धन की हत्या की गई, और थानेश्वर पर धावा बोलने की जुगत

---

१ मालवे के साथ शशाङ्क की इस सन्धि का कारण रक्तसम्बन्ध ज्ञात होता है। क्योंकि स्वयं शशाङ्क शायद गुप्त राजा महासेनगुप्त का पुत्र अथवा भतीजा था। जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं हर्षचरित की एक हस्तलिखित प्रति में उसे नरेन्द्रगुप्त कहा गया है। इस हालत में हर्षचरित में जिस गुप्त को कनौज का छीनने वाला कहा गया है वह स्वयं शशाङ्क ही रहा होगा, और जैसा कि श्रीयुत आर० डी० बनर्जी और आर० चन्दा का अनुमान है,. राज्यश्री का अपने कारावास से छुटकारा उसी की आज्ञा से हुआ होगा। [देखो बङ्गाल में आर० डी० बनर्जी का बङ्गाल का इतिहास, द्वितीय संस्करण पृ० १०६]।

सींची गई। परन्तु इसी समय अधिक शक्तिशाली शत्रु हर्ष रङ्गस्थली में उतरा और वह उत्तरी भारत में प्रभुत्व की होड़ में शीघ्र ही और सबों से बहुत आगे निकल गया। बाण हमें बतलाता है कि कैसे गौड़ राज[1] के विरुद्ध जिसको 'गौडाधिपाधमचण्डाल' और 'अधम गौड-सर्प' कह कर लांछित किया गया है, युद्ध के लिए हर्ष की दिग्विजय-यात्रा बड़े समारोह के साथ आरम्भ हुई किन्तु उसकी आख्यायिका अपने ही कथासूत्र को आगे बढ़ाने की उत्सुकता के कारण यह नहीं बताती कि इन महा समारोहों का परिणाम क्या हुआ। तथापि वह संकेत से इतनी बात कह जाता है कि शशाङ्क न केवल हर्ष के थानेश्वर के राज्य को जीतने का अपना विचार त्यागने को ही बाध्य हुआ, बल्कि उसे कन्नौज की अपनी नई विजय को भी समर्पण करने के लिये विवश होना पड़ा, जिसके परिणाम में हम हर्ष को अपनी बहिन के साथ कन्नौज में अभिषिक्त देखते हैं। इस प्रकार हर्ष अपने भाई की हत्या का बदला लेने के प्रयत्न में यहां तक सफल हुआ, किन्तु इससे आगे नहीं। अब शशाङ्क

---

१ श्रीयुत आर० डी० बनर्जी सुझाते हैं कि इस दशा में हर्ष के साथ कामरूप के दूरवर्ती राजा ने मैत्री का जो प्रस्ताव किया उसका कारण वस्तुतः गौड़राज शशाङ्क के प्रति कामरूपेश्वर का वैर-भाव था, जिस वैरभाव के परिणाम में अन्ततः उसका कर्णसुवर्ण का राज्य, जैसा कि आगे वर्णन किया गया है, कामरूप के राजा भास्करवर्मा से अपने राज्य में मिला लिया गया। वे यह भी कहते हैं कि शशाङ्क कामरूप-थानेश्वर के गुट्ट द्वारा परास्त कर दिया गया होगा और इस पराजय का परिणाम सम्भवतः शशाङ्क के उन सिक्कों में प्रत्यक्ष देखने को मिलता है जो सोने के साथ चांदी का बहुत सा मेल मिला कर घटिया रूप में ढाले गये थे।

ने अपनी तृष्णाओं को एक भिन्न दिशा में अर्थात् पूर्व की ओर प्रेरित किया। यदि गौडाधिप शशाङ्क और सन् ६१६ के गंजम ताम्र पत्र लेख में वर्णित महाराजाधिराज शशाङ्क, जिसके पूर्वी तट पर शासन करने वाले सामन्तों में से एक के दान को यह पट्ट लेख-बद्ध करता है [*Ep. Ind.* vi. 143], एक ही व्यक्ति हैं, तो मानना पड़ता है कि उसने उक्त वर्ष तक सम्राट् के पद को प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार यदि वह स्वयं अपने मण्डल के अन्दर (जो बाण से सम्यक्तया शशाङ्क-मण्डल कहा गया है) पूर्ण महिमा से उजागर हो रहा था। तो हमें इस परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि हर्ष ने उसको कुचलने के लिये जो अपनी सारी शक्तियां लगाईं उनके विरुद्ध वह विजयी रहा। इस दृष्टि से दिग्विजयी हर्ष की कीर्ति-पताका पर यह दूसरा कलंक चिह्न हुआ क्योंकि पहला चिह्न दक्खिन के छत्रपति पुलकेशी द्वितीय से लगाया गया था।

शशाङ्क का राजनैतिक महत्त्व उसके सिक्कों और मुहरों से भी सूचित होता है। एक मुहर, जो उसने महासामन्त की हैसियत से चालू की थी, बिहार के अन्दर रोहतासगढ़ में पाई गई थी। उसने श्री शशाङ्क के नाम से सोने के सिक्के भी चलाये। इन सिक्कों के मुख पर शिव दिखाई देते हैं जो अपने बैल नन्दि पर झुके हुए हैं और उनके पीछे चन्द्रमा का पूर्ण मण्डल है, जो स्वयं उसके शशाङ्क नाम का द्योतक है। इस प्रकार वह शाक्त सम्प्रदाय का अनुयायी मालूम होता है, जिसके कारण वह बौद्ध धर्म का विरोधी था और उसमें मूर्तियों को तोड़ने की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। सिक्कों की पिछली तरफ़ कमल पर बैठी हुई लक्ष्मी सामने-मुंह किए हुए दिखाई देती है, जो बांये हाथ में कमल लिये हुए है; उसके ऊपर, दांये बांये, हाथी पानी छिड़क रहे हैं।

[Allan, *Gupta Coins*, p. 147] ।

इस प्रकार कर्णसुवर्ण के राजा के रूप में शशाङ्क ने एक ऐसे प्रभाव-क्षेत्र की स्थापना की जो सीधे गंजम तक फैला हुआ प्रतीत होता है । इस स्थिति में उसने कितने काल तक शासन किया इसका अनुमान युआन च्वाँग की कुछ बातों से किया जा सकता है । सन् ६३७ में जब यह चीनी यात्री बोधि वृक्ष को देखने गया जिसे शशाङ्क ने उखाड़ डाला था, तो वह बतलाता है कि उस समय शशाङ्क संसार से चल बसा था, किन्तु वृक्ष मौर्य राजा पूर्णवर्मा से फिर सरसब्ज़ कर दिया गया था; अतएव अपने दुष्कृतों के इस प्रतिफल को न सह सकने के कारण शशाङ्क इस मौर्य राजा से पहले ही पञ्चत्व को प्राप्त हो गया!

उसकी मृत्यु के बाद हम सन् ६४३ ई० में हर्ष को पूर्वी समुद्रतट पर कोंगोद देश के विपरीत एक सफल रणयात्रा में प्रवृत्त होते देखते हैं, जहाँ तक जैसा हम देख चुके हैं, शशाङ्क का आधिपत्य फैला हुआ था । इस रणयात्रा के परिणाम में उस सीमा तक हर्ष के साम्राज्य का विस्तार हो गया, और इस प्रकार वह उड़ीसा में एक स्थानीय बौद्ध धर्माचार्य को अस्सी नगरों की बड़ी संख्या दान करने का प्रस्ताव कर सका और अपने महायान बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए उड़ीसा में एक सभा करने के विचार को अपने मन में ला सका । अतएव हम यह अनुमान कर सकते हैं कि केवल शशाङ्क के मरने के बाद ही हर्ष उसके विरुद्ध अपने पुराने बैर का खूब दिल भर कर बदला ले सका होगा । हमारे पास यह दिखलाने के लिए भी प्रमाण है कि हर्ष के बाद कर्णसुवर्ण उसके आश्रयभाजन कामरूप के राजा भास्कर वर्मा के हाथ में चला गया । हर्ष की मृत्यु के बाद जो गड़बड़ फैली उसमें सन् ६४८-९ में हर्ष का मन्त्री अर्जुन उसके राज्य को दबा बैठा ।

इस राज्यापहरण को विफल करने के लिए भास्करवर्मा ने चीनी आक्रमणकारी वांग-ह्यन-से का पक्ष ग्रहण किया। आगे एक शिलालेख में कर्णसुवर्ण की राजधानी में उसके विजयोल्लसित प्रवेश का वर्णन किया गया है, जिसमें वहां उसके शिविर से दिए गये एक दानपत्र का उल्लेख है [*Ep. Ind.* xii. 65], और उसे 'सैकड़ों राजाओं' का विजेता कहा गया है। यहाँ पर प्रसंगवश यह उल्लेख कर देना रोचक होगा कि इस शिलालेख में कामरूप के बारह राजाओं के नामों की एक लम्बी सूची दी गई है, जो भास्करवर्मा[1] के पूर्वाधिकारी थे, जिससे यह लेख आसाम के इतिहास को पीछे सन् ई० की चौथी शताब्दी तक ले जाता है, और इन बारह राजाओं में से अन्तिम पांच वही हैं जिनका वर्णन बाण ने किया है— उसकी आख्यायिका की विश्वसनीयता का यह एक अनूठा प्रमाण है!

तीसरा अध्याय

सभाएं

जब उसका आधिपत्य स्थापित हो गया तो जैसा चीनी यात्री ने बयान किया है, हर्ष तीस वर्ष से अधिक समय तक अटूट शान्ति के साथ राज्य करने में समर्थ हुआ। इन वर्षों में उसने शान्ति की विजयें प्राप्त कीं जो उसकी लड़ाई की विजयों से कम नहीं थीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अशोक के राज्य के समान उसका राज्य वस्तुतः किसी भी प्रकार की राजनैतिक घटनाओं से शून्य

१ नालन्दा में भास्करवर्मा की एक मुहर पाई गई थी जो उस के इन पूर्वाधिकारियों में से आठ के नामों का उल्लेख करती है [*JBORS*, 1919, p. 302; 1920, p. 151]। भास्कर की मुहर उसके मित्र हर्ष की मुहरों के साथ ही मिली थी।

था, किन्तु धर्म और संस्कृति की दृष्टि से सर्वथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं से भरा हुआ था। इस श्रेणी की घटनाओं में एक कन्नौज की धार्मिक सभा थी जिसमें महायान सिद्धान्तों का प्रचार किया गया। चीनी यात्री ने अपने बनाये शास्त्र में उनका प्रतिपादन किया था और उनके विषय और महत्त्व से हर्ष भी उस समय परिचित हो गया था जब उसने बङ्गाल में पहले पहल अपने कजुघिर के शिविर में इस यात्री के दर्शन किए थे। उस स्थान से भिन्न भिन्न राज्यों में सर्वत्र आज्ञाएं भेजी गई थीं कि 'भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों अथवा मतों के सारे शिष्य, श्रमण, ब्राह्मण और पांच भारतों के नास्तिक सिद्धान्तवादी चीन से आये हुए धर्माचार्य की शास्त्रीय व्याख्या की परीक्षा के लिए कन्याकुब्ज नगर में इकट्ठे हों।' शिविर से कन्नौज तक की राज-यात्रा उचित समारोह और वैभव से लक्षित थी। राजा ने अपने पाहुने चीनी यात्री के साथ गङ्गा के दक्षिणी तट से और उसके मित्र और पक्षपाती आसाम के राजा ने, जो सम्राट् के आदेशानुसार अपने पाहुन [युआन-च्वाँग] को लेकर उसके पास आया था, उत्तरी तट से प्रयाण किया। इस प्रकार ये दो राजा नदी की धारा से विभक्त हो कर यात्रा का सञ्चालन करते थे। उनके पीछे किश्तियों में और हाथियों पर, तुरही और ढोल, बांसुरी और वीणा बजाते उनका शानदार सैन्यदल कूच कर रहा था और लाखों आदमियों की भीड़ उमड़ी चली जाती थी इस प्रकार नब्बे दिन में जब वे अपने नियत स्थान पर पहुँचे तो वहां उन्होंने देखा कि उनके स्वागत के लिए पहले ही से अठारह अन्य राजा, ३,००० महायान और हीनयान बौद्ध भिक्षु, ३,००० ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ, और नालन्दा के विहार से आये हुए लगभग १,००० बौद्ध विद्वान् इकट्ठे हुए थे। पहले

ही से दो फूंस के मण्डपों[1] के अन्दर २,००० आदमियों के बैठने का प्रबन्ध किया गया था और बुद्ध की कायपरिमाण वाली सुवर्ण-मूर्ति के लिए एक सिंहासन भी वहां स्थापित किया गया था।

इस अवसर के अनुरूप सम्राट् के लिये जो प्रासाद बनाया गया था उससे चल कर बड़े समारोह से हर्ष ने सभाभवन में प्रवेश किया। बीच में भगवान् बुद्ध की सुवर्ण प्रतिमा एक बड़े हाथी पर स्थापित की गई। उसके एक ओर शक्र अर्थात् इन्द्र की जगह हर्ष और दूसरी ओर ब्रह्मा की जगह कुमार भास्कर हाथों में छत्र और चमर लिये हुए[2] चल रहे थे। दोनों के पीछे एक एक हाथी पर रत्न और पुष्पों के संभार लदे हुए थे और तीसरे हाथी पर स्वयं चीनी यात्री हुएन सांग और सम्राट् के अमात्य विराजमान थे। उनके पीछे तीन सौ[3] उत्तम हाथियों पर विभिन्न देशों के राजकुमार, मुख्य अमात्य और धर्माचार्य लोग बैठे हुए चल रहे थे। जब जुलूस अपने नियत स्थान पर पहुँचा तो सब से पहले बुद्ध की प्रतिमा सभाभवन में ले जाई गई और सिंहासन पर प्रतिष्ठापित की गई। उसके बाद राजा और युआन-च्वाँग ने प्रवेश करके उसे भेंट चढ़ाई; फिर पद के अनुसार उक्त अठारह राजा, १,००० चुने हुए भिक्षु, ५०० चुने हुए

---

१ सि-यु-कि के अनुसार एक विशाल संघाराम, जिसके पूर्वी पार्श्व पर एक १०० फुट ऊँचा बुर्ज था [Beal's *Records*, i. 218]।

२ सि-यु-कि के अनुसार [तत्रैव] हर्ष और कुमार दोनों की अङ्गरक्षा में ५०० लड़ाई के हाथी संग चल रहे थे।

३ सि-यु-कि के अनुसार [तत्रैव] हाथियों की यह संख्या १०० थी।

ब्राह्मण और नास्तिक और भिन्न भिन्न राज्यों के महामन्त्रियों में से २०० महामन्त्री अन्दर पहुँचाए गये, तथा सभा के शेष सदस्य सभाभवन के द्वार के बाहर ही बैठाये गये। इसके बाद राजा ने चीनी यात्री को एक मञ्च पर आसन ग्रहण करने और अधिवेशन का सभापति बनने का आह्वान करके सभा आरम्भ की।

युआन च्वाँग ने महायान के सिद्धान्तों की प्रशंसा करते हुए कार्य प्रारम्भ किया, और शास्त्रार्थ के लिए एक विषय नियत करके नालन्दा के मिंग हिएन नाम के एक भिक्षु को उस पर अपना मत प्रगट करने को कहा। सभाभवन के बाहर लटकाये हुए एक विज्ञापनपत्र पर भी विषय की घोषणा कर दी गई, जिस पर युआन च्वाँग ने यह भी लिखवा दिया कि 'यदि कोई व्यक्ति इस सिद्धान्त पक्ष में एक भी शब्द युक्ति विरुद्ध निकाल देगा अथवा इसके तर्क को अप्रमाणित सिद्ध कर देगा, तो प्रतिवादी की इच्छानुसार मैं अपना सिर भी अर्पण करने को तैय्यार हूँ।' इस प्रकार रात होने तक कोई ऐसा व्यक्ति सामने नहीं आया जो विरोध में एक भी शब्द मुख से निकालता। इस घटना से भली भाँति प्रसन्न हो कर सम्राट् ने सभा स्थगित की और स्वयं अपने महल को लौट चला, तथा दूसरे लोग भी अपने अपने नियत विश्राम-स्थानों को वापिस हुए। दूसरे दिन पहले की भाँति अधिकारिवर्ग ने बुद्ध की प्रतिमा,[1] सम्राट् और दूसरे लोगों को सभा-

---

१ सि–यु–कि में लिखा है कि सभामण्डप में बुद्ध की जो स्वर्ण मूर्ति स्थापित की गई थी, वह ऊँचाई में हर्ष के बराबर या पूरे परिमाण की नहीं थी, किन्तु सोने की एक छोटी, तीन फुट ऊँची प्रतिमा थी जो उत्सवमूर्ति के रूप में अधिक आसानी से इधर उधर ले जाई जा सकती थी।

भवन में पहुँचाया। इस प्रकार सभा के पांच दिन समाप्त हुए तब हीनयान के कुछ अनुयायियों ने यह देख कर कि चीनी यात्री ने हमारे मत को पछाड़ दिया है, क्रोध में आ उसके प्राण लेने के लिए षड्यन्त्र रचा। हर्ष को कहीं से इसका पता लग गया और उसने तत्काल यह घोषणा निकाल दी कि 'यदि कोई चीनी यात्री को किसी तरह की क्षति पहुंचायेगा अथवा उस पर हाथ उठायेगा तो उसी समय उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जावेगा; और जो कोई उसकी निन्दा में मुँह खोलेगा उसकी जीभ कटवा ली जावेगी, किन्तु अन्य सारे लोगों को जो उसके उपदेश से लाभ उठाना चाहते हैं इस आज्ञा से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है।' इसका असर यह हुआ कि विरोधी लोग सभा से, जो उसके बाद अठारह दिन तक शान्ति से होती रही, छू-मन्तर हो गये।[1]

सि-यु-कि में इस सभा का कुछ भिन्न विवरण मिलता है। उसके अनुसार केवल युआन च्वाँग के व्याख्यान ही के लिए यह सभा नहीं की गई थी किन्तु 'विविध विद्वानों' के लिए उसकी आयोजना हुई थी, 'जिन्होंने बहुत ही प्राञ्जल भाषा में बड़े बड़े गूढ विषयों पर शास्त्रार्थ किया' [तत्रैव, p. 219]। उसमें चींनी यात्री के विरुद्ध किसी षड्यन्त्र का निर्देश नहीं है उसके अनुसार यह षड्यन्त्र स्वयं सम्राट् के विरुद्ध रचा गया था। मालूम होता है कि सभा के अन्तिम दिन बुर्ज में और सभा-भवन के फाटक के ऊपर के मण्डप में आग लग गई। जब राजा की प्रार्थना से, जैसा कि लोगों को विश्वास हुआ था, आग बुझ गई तो हर्ष इस दृश्य को देखने के लिए

---

१ सि-यु-कि में सभा के अधिवेशन का समय इक्कीस दिन दिया गया है, तेईस नहीं, जैसा कि यहां वर्णन किया गया है।

दूसरे राजाओं के साथ बुर्ज के सिरे पर चढ़ा, और जब वह सीढ़ियों पर से उतर रहा था तब एक प्रतिपक्षी हाथ में छुरी लकरे अचानक उस पर टूट पड़ा, किन्तु राजा ने सफ़ाई से उसको क़ाबू में कर लिया। फिर उपस्थित राजाओं ने आग्रह किया कि घातक को तुरन्त मार दिया जाय किन्तु हर्ष ने इसका निषेध कर दिया और उसने घातक से उसका यह अपराध स्वीकार कराया कि उसे विरोधियों ने सम्राट् को मारने के काम में लगाया था, जिन्होंने सभा में हर्ष व्यवहार से अपने आपको अपमानित समझा था। इसके बाद हर्ष ने तुरन्त अपने सामने उपस्थित किये गये ५०० विरोधी ब्राह्मणों से लताड़ कर प्रश्न किये; उन्होंने अपने अपराध को स्वीकार करते हुए कहा कि हमने इस सम्भावना से जलते हुए तीर चला कर बुर्ज पर आग लगाई थी कि इससे जो खलबली मचेगी उसमें हम सम्राट् को मार सकेंगे किन्तु इस युक्ति के विफल होने पर हमने इस काम के लिए भाड़े के घातक को तैनात किया। फिर राजाओं और मन्त्रियों ने नास्तिकों के सर्वनाश के लिए आग्रह किया, किन्तु हर्ष ने केवल उनके मुखिया को दण्ड दिया और दूसरों को क्षमा करके उक्त ५०० ब्राह्मणों को देश निकाला दे कर भारतवर्ष के सीमान्त प्रदेशों में भेज दिया [तत्रैव, p. 221]।

इस सभा की समाप्ति पर सम्राट् ने युआन च्वाङ्ग को उसके गुणों की स्वीकृति के उपलक्ष में १०,००० सुवर्ण-मुद्राएं ३०,००० रुपये और बढ़िया सूती एक सौ पोशाकें अर्पण कीं, तथा अठारह राजाओं में से प्रत्येक ने उसे दुर्लभ रत्न देने चाहे। किन्तु इन क़ीमती उपहारों को यात्री ने सच्चे धार्मिक भाव से प्रेरित होकर लेने से इनकार कर दिया। इसके बाद सम्राट् ने उसकी अनुनयपूर्ण अस्वीकृति पर

ध्यान न देकर उसे एक हाथी पर चढ़ाया और राज्य के मन्त्रियों के साथ यह घोषणा करने के लिए उसका जुलूस निकाला कि उसने सत्य सिद्धान्त अर्थात् महायान के आदर्श की स्थापना कर दी है और सारे विरोधी सिद्धान्तों को परास्त कर दिया है।

उसके राज्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण धार्मिक घटना राजकीय उपहारों के वितरण के लिए, जिन्हें मोक्ष कहा जाता था, उसकी पञ्चवर्षीय परिषद् की संस्थापना थी। कन्नौज में अपनी विशेष सभा की समाप्ति पर हर्ष ने देखा कि अब दूसरी सभा के छठे अधिवेशन का समय आ गया है, जिसके लिये नियत स्थान गङ्गा और यमुना के संगम पर प्रयागराज था, जहाँ अनुश्रुति के अनुसार 'एक कौड़ी दान करना अन्य स्थानों में एक सहस्र दान देने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर था,' और जिसके कारण वह स्थान 'दान धर्म का क्षेत्र' कहलाता था। जब हर्ष ने युआन च्वाँग को इस सभा के लिए अपने साथ प्रयाग चलने का निमन्त्रण दिया तो अपनी जन्मभूमि चीन के लिए उत्कण्ठित होने पर भी वह उसे अस्वीन कर सका और उसने यह कहते हुए उसे स्वीकार किया कि यदि महाराज को दूसरों के कल्याण के लिये अपने कोश का लुटाना नहीं अखरता तो मुझे घर की यात्रा में थोड़ा सा विलम्ब कैसे अखर सकता है? इस प्रकार वे अठारह राजाओं से परिवृत होकर प्रयाग में पहुंचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ लगभग पांच लाख लोग पहले ही से इकट्ठे हुए थे।

'दान का अखाड़ा' लगभग पांच मील के घेरे में संगम के पश्चिम का रेतीला मैदान था, जहाँ आज भी 'भारतवर्ष का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक समाज' अर्थात् कुम्भ का मेला लगता है जिसमें सब से अधिक लोग इकट्ठे होते हैं। 'पांचों भारतों में सर्वत्र श्रमणों, नास्तिकों, निर्ग्रन्थों, दीनों

अनाथों और विकलों (दुःखियों) को दान के अखाड़े में आने और राजकीय दानों को ग्रहण करने के लिये' निमन्त्रण भेजे गये। एक वर्गाकार घेरा बनाया गया: उसके चारों ओर एक बांस की बाड़ बनाई गई थी, जिसकी प्रत्येक भुजा नाप में १,००० क़दम थी; मध्य में बीसियों छप्परदार घर थे जिनमें सोना, चांदी और मोती जैसी बहुमूल्य निधियां रक्खी गई थीं, तथा सोने और चांदी की मुद्राएं, रेशमी और सूती वस्त्र जैसी कम क़ीमती चीज़ें इसी घेरे के अन्दर सैकड़ों अन्य गोदामों में रक्खी गई थीं। बाहर भोजन जीमने के लिए स्थान बनाए गये थे। लगभग एक सौ दीर्घाकार मकान भी बनाए गए थे जहाँ एक हजार आदमी विश्राम करने के लिए बैठ सकें।

इसके अतिरिक्त गङ्गा के उत्तरी तट पर सम्राट् का, संगम के पश्चिम में वलभी के राजा का, और यमुना के दक्षिणी तट पर आसाम के राजा का तम्बू लगाया गया था, जब कि वलभी के शिविर के पश्चिम ओर सब दान लेने वाले इकट्ठा हुए थे। परिषद् की कार्यवाही सम्राट् के अनुयायि-वर्ग के, कुमारराज के जहाजों में बैठे हुए कर्मचारियों के, ध्रुवभट्ट के हाथियों पर आरूढ़ परिचारकों के तथा साथ ही अठारह राजाओं के सम्मिलित फ़ौजी जुलूस से आरम्भ की गई[1]।

पहले दिन के कार्यक्रम में सभाभूमि में छप्परदार भवन के अन्दर बुद्ध की प्रतिमा का प्रतिष्ठापन और उसके उपरान्त अधिक क़ीमती वस्त्रों और अन्य पदार्थों का वितरण सम्मिलित था। दूसरे और तीसरे दिन सूर्य (आदित्य) और शिव (ईश्वर) की मूर्तियों की स्थापना हुई और तत्पश्चात् बुद्ध के

---

१ कुमारराज और, ध्रुवभट्ट के मिलाने से उपस्थित राजाओं की संख्या बीस हो जाती है, जैसा कि सि–यु–कि में कहा गया है।

सन्मान में दी गई वस्तुओं के मूल्य का केवल आधा दान दिया गया। चौथे दिन उपहारों का वितरण १०,००० चुने हुए बौद्धों के लिए रक्खा गया, जिनमें प्रत्येक को भाँति भाँति के पेय और खाद्य पदार्थों, फूलों और सुगन्धियों के अतिरिक्त १०० सुवर्ण मुद्राएँ, एक मोती और एक सूती पोशाक मिली। अगले बीस दिन ब्राह्मणों को दान देने के लिए रक्खे गये, जिनके उपरान्त अगले दस दिन नास्तिकों को दान दिया गया। दस दिन और दूर दूर के देशों से आये हुए भिखारियों को दान देने में विताये गये; और आठवां वितरण ग़रीबों, अनाथों और दीनों के लिए था, जिसमें पूरा एक महीना लगा। 'अब तक पांच वर्ष का सञ्चय समाप्त हो चुका था। घोड़, हाथी और फ़ौज को छोड़ कर, जो व्यवस्था बनाये रखने और राजपद की रक्षा के लिए आवश्यक थे, कुछ भी शेष न रहा। इनके अतिरिक्त राजा ने दिल खोल कर अपने रत्न और चीजें, वस्त्र और हार, कुण्डल, कंगन, माल्य, कण्ठमणि और देदीप्यमान शिरोमणि, सब लोगों को दे दिये–ये सब वस्तुएं उसने दिल खोलकर विना किसी संकोच के दीं। सर्वस्व दान हो जाने पर,' इस उमंग से उल्लसित होते हुए कि मेरी सारी सञ्चित सम्पत्ति और कोश इस प्रकार 'पुण्य-क्षेत्र' में वितरण किये गये हैं, 'उसने अपनी बहिन (राज्यश्री) से एक बरती हुई पोशाक मांगी और उसे पहिन कर दश दिशाओं के बुद्धों की आराधना की।' इस प्रकार इन पञ्चवर्षीय परिषदों में हर्ष ने वैयक्तिक दान की पराकाष्ठा कर दिखाई।

इस परिषद् के समाप्त हो जाने पर चीनी यात्री दस दिन और रोका गया; उस समय हर्ष और कुमारराज ने उसे सुवर्ण मुद्राएं और हर तरह की बहुमूल्य वस्तुएं भेंट कीं, किन्तु उसने मार्ग में सर्दी से बचने के लिए केवल कुमारराज

के दिये हुए एक पशमीने के कोट को अंगीकार किया। फिर हर्ष बड़ी दूर तक उसके साथ गया। यात्री का सामान (पुस्तकें और प्रतिमाएं) उत्तर भारत के उधित नाम के राजा से तैनात किये गये सैनिक रक्षकवर्ग की देख रेख में घोड़े पर रख कर ले जाया गया, किन्तु यात्रा की गति मन्द देख कर सम्राट् ने तुरन्त उधित राज के रक्षकवर्ग के साथ एक विशाल हाथी भेज दिया और स्वयं कई सौ फुर्तीले घुड़सवारों को लेकर अपने सहचर कुमार और ध्रुवभट्ट समेत यात्री से पुनः जा मिला, जिससे उसके साथ कुछ और समय बिता सके और फिर अन्तिम बिदाई ले।

उसके राज्य की ज्ञात घटनाओं में यह एक और उल्लेखनीय घटना है कि वह काश्मीर से बुद्ध के एक दन्तावशेष को ज़बरदस्ती ले आया। जब हर्ष उस दांत को देखने और पूजने के लिए स्वयं इतनी दूर गया, तब संघ ने पहले उसे ज़मीन के अन्दर छिपा दिया था। किन्तु काश्मीर के राजा ने हर्ष के दुर्धर्ष स्वभाव से डर कर इस स्मृतिचिह्न को ज़मीन में से खुदवाया और फिर हर्ष बल के प्रयोग से उसे ले आया। हर्ष ने इस स्मृतिचिह्न को कन्नौज के एक विहार में मन्दिर के अन्दर प्रतिष्ठापित किया [*Life*, p. 181]।

चौथा अध्याय

शासन

हर्ष के राज्य में इन धार्मिक घटनाओं की प्रधानता इस बात की साक्षी है कि शान्ति और मर्यादा को बनाये रखने और राजनैतिक विप्लवों के समस्त कारणों को निर्मूल कर देने में उसका शासन कहां तक समर्थ हो सका था। दुर्भाग्य से इस शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में, जिसके प्रभाव से देश शान्ति और धर्म के कामों के अनुशीलन के लिए इस प्रकार स्वतन्त्र होगया था, कोई अधिक विवरण प्राप्त नहीं है। उस सफलता का अधिकांश श्रेय निश्चित रूप से सम्राट् हर्ष को ही था जिसमें कि अपनी ही दिग्विजयों से उपार्जित विशाल साम्राज्य के शासन के अधिपति के योग्य कर्तव्य और उत्तरदायित्व को समझने और पूरा करने की क्षमता प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। किसी शासक के लिए सब से पहली आवश्यक बात यह है कि उसे उन लोगों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए जो उसकी छत्र छाया में रहते हैं। राज्य के भिन्न भिन्न और दूरवर्ती भागों के ज्ञान में राज्य का कोई भी दूसरा मनुष्य शायद सम्राट् की समता नहीं कर सकता था। इस ज्ञान को उसने आखेट के समय, रणयात्राओं में, शासनसम्बन्धी दौरों में, तीर्थ यात्रा में अथवा दूसरे अवसरों पर प्राप्त किया था। अपने साम्राज्य के उत्तरी भागों का भौगोलिक ज्ञान उसे आरम्भिक जीवन में प्राप्त हुआ था, जब हूणों से जूझने के अवसर पर वह अपने भाई के पीछे हो लिया था और उसने उस भाग के जंगलों और पहाड़ों में शिकार में समय बिताया था; साथ ही अपनी काश्मीर-

यात्रा के प्रसङ्ग में भी उसने यह ज्ञान प्राप्त किया था। इसके उपरान्त हम उसे अपनी बहिन की तलाश में विन्ध्याचल के जंगलों और पहाड़ों में भटकते फिरते देखते हैं। तदनन्तर मालवा और वलभी के विरुद्ध उसके संग्राम होते हैं और आगे दक्षिण की ओर रेवा के तटों पर, जहां उसके आक्रमण की बाढ़ दक्षिण के एक सम्राट् से रोकी गई थी, हम उसे विपद्ग्रस्त देखते हैं। उसकी अपनी रण-यात्रा के समाप्त होने पर तीर्थ-यात्राओं और शासन-सम्बन्धी दौरों का समय आया। अशोक की भाँति वह भी राजा के लिए भ्रमण को उतना ही अपरिहार्य समझता था जितना अपने कर्मचारियों के लिए, ताकि वह अपनी छाया में आये हुए लोगों की दशाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सके। चीनी यात्री कहता है कि 'यदि नगरों के लोगों के आचरण में कोई व्यतिक्रम होता तो वह उनमें जा पहुंचता था' [Beal, i. 215]। शिलालेखों से हमें दो स्थानों का पता लगता है जहां दौरा करते समय हर्ष ने अपना शिविर डाला था, अर्थात् वर्धमाणकोटि, जहां से सम्राट ने बांसखेरा दान-पट्ट जारी किया और कपित्थिका [युआन च्वाँग का कपित्थ जिसकी तादात्म्यता कन्नौज के पास के संकाश्य स्थान से की गई है] जहां से मधुवन दान-पट्टा जारी किया गया था। चीनी यात्री हमें यह भी बतलाता है कि उसके आने के समय 'सम्राट् अपने साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों में यात्रा कर रहा था' [Beal, i. 215]। वह पहले पहल सम्राट् को बंगाल में कजुंघिर स्थान पर, जिसका पहले निर्देश किया जा चुका है, उसके शिविर में मिला। यहां 'पूर्वी भारत की यात्रा के अवसर पर उसने दरबार लगाया' [Watters, ii. 183]। वह अपने कोंगोद [गंजम] के आक्रमण से, उड़ीसा में कुछ समय बिताने के बाद [*Life*, p. 159], सीधे उस

स्थान को चला आया [तत्रैव, p. 172]। जब वह उड़ीसा में शिविर लगाये हुए था, उसको हीनयान के अनुयायी मिले जिन्होंने उसे प्रज्ञागुप्त नाम के, एक दक्षिण भारतीय राजा के गुरु की एक रचना दिखलाई जिसमें महायान के सिद्धान्तों पर शङ्काएं उठाई गई थीं। राजा ने कहा—तुमने महायान के उत्तम आचार्य नहीं देखे हैं, जिस पर उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया कि इस बात के निर्णय के लिए आप चाहें तो सभा कर सकते हैं। उसी दिन राजा ने नालन्दा विहार के शीलभद्र नामक आचार्य को एक सन्देशहर के हाथ एक पत्र भेजा कि आप शास्त्रार्थ के लिए चार विद्वान् भिक्षुओं को भेजें। किन्तु हर्ष उड़ीसा में बहुत काल तक न ठहर सका और इस लिए उसने नालन्दा को दूसरा पत्र भेजा जिसमें उसने कहा—'मेरी पिछली प्रार्थना के सम्बन्ध में अभी जल्दी करने की आवश्यकता नहीं, अभी वे ठहरें, और बाद को यहां आवें' [*Life*, p. 159]। जब सम्राट् दौरों पर होता था तो उसके रहने का प्रबन्ध ऐसे भवनों में किया जाता था, जो 'सफ़री महल' [जंगम प्रासाद] कहलाते थे। एक ऐसा महल उसके लिए सभा के निमित्त उसके कन्नौज में टिकने के अवसर पर खड़ा किया गया था [*Life*, p. 177]। यह 'यात्रा-मण्डप' भी कहलाता है [तत्रैव, p. 173], जैसा कि उसके लिए कजुघिर में बनाया गया था। ये भवन, झोंपड़ियों की भाँति, फूंस के बनाये जाते थे [Watters तत्रैव], अथवा 'टहनियों और पत्तों के गुच्छों से तय्यार किये जाते थे,' और सम्राट् के विदा होने पर जला दिये जाते थे [Beal, ii. 193]। वह बड़े ठाट से यात्रा करता था यह बात मणितारा में अजिरवती के तटों पर उसके शिविर के हर्षचरित में दिये हुए वर्णन से, जो पहले उद्धृत किया

जा चुका है, स्पष्ट है[1]। वहां सम्राट् का शिविर प्रसिद्ध मातहत राजाओं के अनेक शिविरों और उनके अपने अपने अशेष अनुयायिवर्ग से परिवृत था। उसमें चार पृथक् पृथक् प्राङ्गण थे। चौथे प्राङ्गण में एक मण्डप के नीचे मुक्ता मय शिला-पट्ट पर बैठे और नीलम और लाल के पीढे पर पांव रक्खे, सम्राट् आगन्तुकों को दर्शन देता था। शिविर के प्रवेश-द्वार भी ऐसे ही ठाट और विभूति से उपलक्षित थे। इधर राज-द्वार हाथियों के यूथों से श्यामायमान हो रहा था; उधर आगे को टूटते हुए घोड़ों से जो अपनी चञ्चल शक्ति के कारण आकाश को कूद रहे थे, सारा स्थान तरङ्गमय प्रतीत होता था; एक भाग में ऊँटों के दलों के कारण सब कुछ धूसरित हो रहा था: एक और भाग सफ़ेद छतों के पुञ्ज से सर्व श्वेत हो रहा था अथवा हजारों झूलते हुए चंवरों से लहरा रहा था। राजकीय शिविर के अन्दर जाने की व्यवस्था महाप्रतीहारों के हाथ में थी, जिनका प्रधान राजा का प्रीतिभाजन पारियात्र नामक दौवारिक था। यह कह कर बाण के साथ उसका परिचय कराया गया कि प्रत्येक कल्याणाभिलाषी जन के लिए महाप्रतिहार की उचित आराधना आवश्यक है। [हर्ष० ६२]

शिविर के अन्दर राजा के लाड़ले घोड़ों से भरी हुई एक घुड़साल थी, जिसमें राज-गयन्द दर्पशात भी था। सम्राट् के राजसी पाहुनों के यात्रा-गृह से भी इन 'सफ़री महलों' के

१ पीटरसन [कादम्बरी, Introduction p. 53 n.] ने भी यही दर्शाया है कि 'बाण के राजदर्शन के समय हर्ष भारतवर्ष के उत्तर में एकच्छत्र शासक हो चुका था, और प्रतीत होता है कि उसकी कोई नियत राजधानी नहीं थी।' चीनी यात्री ने उसकी राजधानी कन्याकुब्ज में बताई है, पर बाणकृत हर्षचरित इस विषय में मौन है। पर चीनी यात्री भी उसकी यात्राओं का तो बार बार उल्लेख करता ही है।

ठाट बाट की रौनक बढ़ती थी[1]। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, आसाम का राजा कुमार २०,००० हाथियों पर और ३०,००० जहाज़ों में अपने अनुयायियों को लेकर बंगाल में उसके शिविर में उसे मिलने आया था। शासन-विषयक कर्तव्य के अंगभूत इस भ्रमण करने की राजप्रणाली पर युआन च्वाँग ने निम्न-लिखित सामान्य विवेचन दिया है—राजा निरीक्षण के लिए अपने साम्राज्य में सर्वत्र जाता है, वह किसी एक स्थान पर बहुत देर नहीं टिकता, किन्तु उसके लिए प्रत्येक पड़ाव पर काम-चलाऊ भवन तय्यार कर दिये जाते हैं, और चौमासे के तीन महीने वह बाहर नहीं जाता' [Watters, i. 344]। इस प्रकार जब वह भ्रमण भी करता रहता था तब भी प्रति दिन १,००० बौद्ध भिक्षुकों और ५०० ब्राह्मणों के लिए राजकीय निवासों से भोजन की व्यवस्था की जाती थी [तत्रैव]।

इस तरह स्वयं सम्राट् अपने साम्राज्य में सबसे अच्छे देशाटन करने वालों में से एक था, और जिन स्थानों में उसने अपने राष्ट्र में यात्रा करते हुए डेरा डाला उनमें से, काश्मीर, वलभी, रेवा और गंजाम के अतिरिक्त जहाँ वह आक्रमणकारी की हैसियत से गया था, हमें कम से कम निम्न-लिखित स्थान, अर्थात् राजमहल, कन्नौज, प्रयाग, मणितारा (अवध) और उड़ीसा ज्ञात हो चुके हैं। उसके देशाटनों के विस्तार का अनुमान इस बात से भी किया जा सकता है कि उसे चीनी सम्राट् तै-सुंग की सामरिक ख्याति और पराक्रमों का ज्ञान था, जिसकी चर्चा उसने युआन च्वाँग से बात-

१ हर्ष स्वयं अपनी रत्नावली (अङ्क ४) में वत्सराज के शिविर का वर्णन करते हुए कहता है कि वह 'बहुमूल्य तुरगों, विजय के हाथियों और सामन्तों के मंडलों (क्षितिभृतां गोष्ठैः) से उपलक्षित था।

चीत करते समय की। जैसा कि वाटर्ज़ ने बतलाया है, इस प्रकार का ज्ञान वह केवल दूर उत्तर में भ्रमण करने से ही प्राप्त कर सका होगा।

किन्तु सम्राट् अत्यन्त परिश्रमशील कर्मचारियों में से भी एक था। चीनी यात्री कहता है कि 'राजा का दिन तीन भागों में बँटा हुआ था, जिनमें से एक राजकाज में व्यतीत होता था और शेष दो धर्म-कार्यों में लगाये जाते थे। वह काम से कभी नहीं उकताता था और दिन उसके लिए अत्यन्त अल्प मालूम होता था' [Watters, i. 344]। 'अपनी सत्कार्य-निष्ठा में वह खाना और सोना भूल जाता था' [तत्रैव]।

सम्राट् सदैव कितना व्यापृत रहता था इस बात का बाण ने 'अजिरवती नदी पर मणितारा के निकट लगे हुए' राजकीय शिविर में अपने राज-दर्शन के सम्बन्ध में बड़ा मूर्तिमान् वर्णन दिया है। 'सम्राट् भोजन करने के बाद आगन्तुकों को दर्शन देता था,' इसलिए बाण 'स्नान, भोजन और विश्राम करके, जब दिन का केवल एक पहर शेष रह गया था और राजा भोजन जीम चुका था' द्वारपाल मेखलक के साथ झूमते-झामते राजद्वार की ओर चला। मार्ग में उसने एक एक करके 'विश्रुत वशवर्ती राजाओं के अनेकों शिविरों' और 'विजित शत्रु सामन्तों' को देखा। राजाओं को भी सम्राट् का दर्शन दुर्लभ था। बाण ने उनमें से कुछ को 'दर्शन की आशा में दिन बिताते' और दूर दूर देशों के अन्य ऐसे राजाओं को देखा जो सम्राट् की महिमा का साक्षात् करने की इच्छा से वहाँ पधारे थे और केवल उस समय की बाट जोह रहे थे जब राजाधिराज उनके दृष्टि गोचर हों। समय समय पर 'बाहर निकलते और भीतर जाते हुए अन्तःपुरीय प्रतीहारों के सेवकों के पीछे भाँति भाँतिके सहस्रों प्रार्थी उत्कण्ठा से यह पूछते चले जाते थे कि हमें राजदर्शन का मिलना

कब सम्भव हो सकता है।' दौवारिक पारियात्र से बतलाये हुए मार्ग का अनुसरण करते हुए बाण को 'अधीन राजाओं से भरे हुय तीन प्राङ्गणों को पार करना' पड़ा, 'और चौथे प्राङ्गण में उसने एक मण्डप के सामने एक खुले स्थान पर, दूर एक पंक्ति में स्थिति शस्त्रधारी परिचारकों से परिवृत, सम्राट् हर्ष को देखा, उसके समीप ही उसके विशेष प्रीति-भाजन लोग बैठे हुए थे'। [हर्ष० ७०] उनमें मालवा का एक राजकुमार उसके निकट बैठा हुआ था और वह स्वयं एक मोती-जैसे विमल पत्थर के सिंहासन पर आसीन, अपने शरीर के भार को अपनी भुजा पर डाले हुए जो आसन के पर्यन्त भाग में टिकी हुई थी, अधीन राजाओं के साथ क्रीडामग्न था। उसका बांया पैर नीलमों के बने हुए और पद्म-रागों की मेखला से परिबद्ध एक महार्घ विशाल पाद पीठ पर लीलापूर्वक विन्यस्त' [हर्ष० ७२] था।

किसी भी प्रमाणग्रन्थ में राजमहल का पर्याप्त वर्णन नहीं मिलता। किन्तु उसकी विभूतिमत्ता का अनुमान सम्राट् के सफ़री महलों से किया जा सकता है, जिनका वर्णन पहले किया गया है। राजमहल की और साथ ही राजधानी की भी विभूतिमत्ता की कुछ झलक, हर्षचरित में यत्र तत्र दी गई है। हम देखते हैं कि स्थाण्वीश्वर की राजधानी विजय-ध्वनि, तूर्यनाद, चारणों और भाटों के गीतों और कामकाज की कलकल से झङ्कृत रहती थी [हर्ष० १५३]। प्रधान सडक विपणि-वर्त्म, [हर्ष० १५३] कहलाती थी। महल से सडक की ओर सटी हुई एक दीवार थी जिस पर सफ़ेदी की गई थी [हर्ष० १४२]। हम उसके सोपानःमार्गों का और राजकुमार का महल से नीचे उतरने का वर्णन पढ़ते हैं। मालूम होता है महल में चार प्राङ्गण थे [हर्ष० १५४] जो उत्स-वों के अवसरों पर 'हाथियों और घोड़ों के समुद्रों' [हर्ष०

१४२] का रूप धारण करने के लिए काफ़ी विशाल थे। हम उसके 'विचित्र सिन्दूर-कुट्टिमों' [हर्ष० १४२] और मङ्गलमय दृश्यों की चित्रकारी की सजावटों का, एवं मछलियों, कछुओं, मगरमच्छों, नारियल, केले और सुपारी के वृक्षों के आकार के मिट्टी के खिलौनों के बनाये जाने का वर्णन पढ़ते हैं [हर्ष० १४२] उसकी विलास सम्पन्नता का किञ्चित् भान इस वर्णन से होता है कि 'वहां सुगन्धित जलको बहाने वाली मकर-मुखी प्रणालियों से विविध क्रीडा-वापियां भरी जाती थीं [हर्ष० १४२]।' महल के आँगनों में 'शेर अपने पिंजड़ों में' देखे जा सकते थे, जिनको देख कर हर्ष की माता उसके जन्म लेने से पूर्व अपनी आँखों को तृप्त किया करती थी [हर्ष० १२७]: विविध वानर और वनमानुष, दुर्लभ पक्षी (जीवंजीवक) और जल-मानुष-दम्पती जिनके गले कनक शृङ्खलाओं से बंधे हुए थे; कस्तूरी हिरन (कस्तूरिका-कुरङ्ग) जो अपने परिमल से दिशाओं को सुरभित कर रहे थे; घर के आस पास संचरण में परिचित चमरी गायें; शुक-सारिकाएं, और दूसरे पक्षी जो सोने का मुलम्मा लगे हुए बाँस के पिंजरों में बंद थे और अनेक सुभाषित कहने में चतुर थे; प्रवाल के पिंजरों में रक्खे हुए चकोर—ये सब वहाँ विद्यमान थे, जिन्हें उपहार रूप में आसाम के राजा ने हर्ष का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उसके पास भेजा था [हर्ष २१७-१८]। हर्ष का पिता महाराज प्रभाकरवर्धन अपने भीतरी भवन में, जो 'धवल-गृह' कहलाता था, बीमार पड़ा था, जहाँ देहली पर अनेकों वेत्रधारियों की भीड़ लगी थी, बरामदा [सुवीथी पद] एक तिहरे पर्दे से छिपा हुआ था, अन्दर का द्वार [पक्षद्वार] बन्द था, किवाड़ों के घर्राने का शब्द भी नहीं होता था, और ढकी हुई खिड़कियां हवा के झोंकों को रोके हुई थीं [हर्ष० १५५]। धवल-गृह के ऊपर चन्द्रशाला में मूक राजसचिव दबक कर

बैठे थे, पर्दों से ढकी हुई अट्टालिका में स्त्रियां आसन लगाये थीं, और चतुःशाला में परिचारकों की भीड़ लगी थी' [हर्ष० १५५]। रानी यशोवती अपनी 'चन्द्रशालिका' (छत पर के भवन) में सोया करती थी, जिसकी दीवारों पर 'चंवर डोलने वाली [चामर ग्राहिणी] स्त्रियों की तस्वीरें बनी हुई थीं' और वितान अन्य पत्रभंग निर्मित चित्रों से चित्रित था। उसके राज-सम्भार में एक बहुमूल्य पलंग [शयनीय] और मणिमय दर्पण भी सम्मिलित थे [हर्ष० १२७]।

मालूम होता है राजकुमारों को रहने के लिए अलग अलग घर दिये गये थे। राजकुमारावस्था में हर्ष के विषय में हम पढ़ते हैं कि वह महल से उतर कर पैदल ही अपने मन्दिर में गया [हर्ष० १६०]।

सम्राट् बन कर जिस ठाट और विलासिता में हर्ष ने जीवन व्यतीत किया उसका निर्देश बाण के इस वर्णन से मिलता है कि वह सोने और चाँदी के कलशों से [हर्ष० २०२] स्नान करता था और वह ब्राह्मणों को जो दान देता था उसमें 'सहस्रों बहुमूल्य रत्न, रूपे और सोने के तिलपात्र, और करोड़ों गायें भी होती थी, जिनके खुर और सींगों के अग्रभाग सोने के पत्रों की लताओं से अलंकृत होते थे।' [हर्ष० २०२] यात्रा के समय भी विलास वैभव की विविध सामग्री उसके साथ चलती थी। 'राजा के भृतकभारिक (भाड़े के कुली) उसके सुवर्ण के पाद पीठों, कलशों, प्यालों, पीकदानों (निष्ठीवनपात्र) और नहाने की द्रोणियों को लेकर चल रहे थे, और सम्राट् के उपकरणों का वहन करने के कारण गर्व से इठलाते चलते थे, रसोई के उपकरणों को ढोने वाले भी साथ थे, जिनके पास शूकर चर्म से निर्मित रस्सियों में बन्धे हुए बकरे थे, लटकती हुई गौरैयों और हरिणों के लम्बायमान अग्रभागों के समूह थे, शश-शावक,

साग-पात और बांस की कोंपलों का संग्रह था, शुक्ल वस्त्र से ढके हुए और मुख के एक स्थान पर आर्द्र मुद्रा से गुप्त गोरस-भाण्ड थे, और अग्निकुण्डों, चूल्हों, तापिकाओं (तलने की कढ़ाइयों), शूलों (सीखों), तांबे के कढ़ाहों, भर्जनपात्रों की रेलपेल से भरे हुए करडोल थे।' [हर्ष० २११] और यह भी वर्णन है कि मार्गस्थ ग्रामीण लोग टोकरियों में दही, गुड़, खांड और फूलों के उपहार लेकर पर्यटनशील सम्राट् की बाट जोहते थे [हर्ष० २१२]। अन्तर्निविष्ट रेशमी तागों से दंदीप्यमान एक तुषार-धवल (अमृतफेनपटलपाण्डु-ह० च०) अधोवस्त्र, एक मणिमय मेखला, और झिलमिलाते हुए खचित सितारों से अलंकृत एक झीना ऊर्ध्ववस्त्र, यही उसकी पोशाक थी [हर्ष० ७२–७३]। वह एक मोतियों की माला और अन्य आभरण पहिनता था, जिनसे वह दोनों ओर फैले हुए मणिमय पत्तों से युक्त माणिक्यमहीधर (रत्नों का पहाड़) जैसा [हर्ष० ७३] दिखाई देता था। चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति उसके पास भी स्त्री-परिचारिकाएं थीं; एक चंवर डुलानेवाली स्त्री थी, और एक पैर दबाने वाली (चरण–ग्राहिणी) परिचारिका भी थी [हर्ष० ७५]। महाराज प्रभाकरवर्धन की चरण-ग्राहिणियों में वलाहिका और पद्मावती का उल्लेख किया गया है और जब वह बीमार था तब हरिणी, वैदेही, लीलावती, धवलाक्षी, कान्तिमती, कलावती, चारुमति, पाटलिका, इन्दुमती, मालती, आवन्तिका, आदि अनेकों उपचारिकाएं [हर्ष १६०] उसकी शुश्रूषा मे लगी थीं। रानी यशोवती की भी अपनी निजकी परिचारिकाएं थीं, जिनमें वेला [हर्ष० १६३] प्रधान प्रतीहारी थी। और धात्रीसुता सुयात्रा विशेष प्रीति पात्र [हर्ष० १२८] थी। उसके प्रसव-समय 'अपने अपने उचित स्थानों पर बैठे हुए और विविध वनौषधियां लिए हुए महान् भिषक्' उसकी शुश्रूषा

में नियुक्त थे [हर्ष० १२७]।

महल के सेवक-वर्ग में द्वारपाल [जिनका मुखिया पारियात्र (हर्ष० ६२) था], अपने चाकरों समेत अन्तःपुर प्रतिहारी [हर्ष० ६०], चामरग्राही, कञ्चुकी, एक प्रधान के नीचे काम करने वाले रसोइये, एक अङ्गरक्षकवर्ग, और इसी तरह के अन्य परिजन सम्मिलित थे। उच्च अधिकारि-वर्ग में वैद्य (जिनमें सुषेण और रसायन का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वे हर्ष के पिता की बीमारी में उसकी चिकित्सा कर रहे थे), राजा के मन्त्री, पुरोहित, पण्डित (जिनमें गम्भीर का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह प्रभाकरवर्धन का विशेष प्रणयी [हर्ष० १४६] था), और बाण और हरिदत्त जैसे राजकवि थे, जिन्हें हर्ष ने प्रतिष्ठा के शिखर पर पहुँचाया था [*Ep. Ind.* i. 180]।

राजकाज को निष्पन्न करने के लिए हर्कारे (दीर्घाध्वग) नियुक्त किये गये थे जो 'निरन्तर जाते और आते रहते थे' [Beal, i. 215]। बाण विख्यात हर्कारे (प्रज्ञाततम दीर्घाध्वग [हर्ष० ५२]) मेखलक के द्वारा बुलाया गया था। एक दीर्घाध्वग को महाराज प्रभाकरवर्धन ने ऊँटनी पर [हर्ष० १४४] अपने जामाता के पास भेजा था। हम हर्षचरित में यह भी पढ़ते हैं कि जब हर्ष अपने पिता की बीमारी की ख़बर सुनकर पंजाब से राजधानी को शीघ्र वापिस हो रहा था तो 'उसे रास्ता बतलाने के लिए गाँव गाँव में ग्रामीण लोगों (ग्रामीणपरम्परा) को तैनात करने को आगे आगे पियादे भेजे जाते थे [हर्ष० १५२]।' स्वयं यह ख़बर उसको कुरंगक नाम के दीर्घाध्वग ने दी थी, जो प्रभाकरवर्धन से हर्ष के लिए एक पत्र लेकर आया था [हर्ष० १५१]। महल में पहुँच कर और राजा को सख़्त बीमार देखकर हर्ष ने अपने भाई के आगमनार्थ शीघ्रता से, एक के बाद दूसरा, क्षिप्रगा-

भी दीर्घाध्वग और अति तेज़ ऊँट-सवारों (उष्ट्रपाल) को दौड़ाया [हर्ष० १६०] ।' इस विधि से संदेश काफ़ी जल्दी पहुँचाये जा सकते थे, यह इस बात से प्रगट होता है कि एक संदेशहर ने आसाम से नालन्दा को दो दिन में ही एक पत्र पहुँचाया था [*Life*, p. 169] । बाण गुप्तचरों की नियुक्ति का भी निर्देश करता है, जिन्हें वह सर्वगत कहता है।

शासन की वास्तविक पद्धति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत नहीं है। सम्राट् के बाद राज्य के प्रधान मन्त्रियों का पद था, जिनसे सम्भवतः मन्त्रिपरिषद् बनी थी। मालूम होता है राज्यवर्धन के राज्यत्व-काल में उसका ममेरा भाई भण्डि महामन्त्री रहा होगा, क्योंकि उसके मरने पर उत्तराधिकार का निर्णय करने के लिए मन्त्रि-परिषद् की बैठक करने का काम उसी के ऊपर पड़ा। इकट्ठा हुए मन्त्रियों को सम्बोधित करते हुए भण्डि ने कहा—'आज राष्ट्र के भाग्य का निपटारा होने वाला है। वृद्ध महाराज के पुत्र परलोक को सिधार चुके हैं। उनके कनिष्ठ भाई दयालु और सहृदय हैं, और दैव कृपा से उनकी प्रकृति अत्यन्त कर्तव्यशील और आज्ञानुवर्तिनी है। चूंकि वह अपने वंश पर दृढ़ अनुरक्त हैं, अतएव प्रजाजन उन पर विश्वास करेंगे। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि वह राजकीय अधिकार को ग्रहण करें। इस विषय पर हर एक अपनी अपनी समझ के अनुसार अपनी राय दे।' इस बात में वे सब सहमत थे और उन्होंने उसके उज्ज्वल गुणों को स्वीकार किया। इस पर प्रधान मन्त्री और न्यायाधीश हर्ष के पास गये और उन्होंने उससे राजकीय अधिकार को ग्रहण करने की प्रार्थना की। यह विवरण युआन च्वाँग ने भी दिया [Beal, i 211], और इससे यह प्रगट होता है कि राज्य में मन्त्रि-परिषद् का वास्तविक प्रभुत्व था, यहां तक कि राजा

का चुनाव भी उनके हाथ में था। सचिवों की प्रभुता का एक और प्रमाण इस बात से प्रगट होता है कि वे ही उस भ्रान्त नीति के लिये उत्तरदायी थे जिसके कारण राज्यवर्धन की मृत्यु हुई। 'अपने मन्त्रियों की ग़लती से वह अपने आपको शत्रु के हाथ समर्पण करने को उद्यत हुआ [तत्रैव]। इसका यह अभिप्राय है कि उसके मन्त्रियों ने यह निर्णय किया कि राज्यवर्धन को राजा शशाङ्क के सभा में उपस्थित होने के निमन्त्रण को मानना चाहिए, जहाँ विश्वासघात से उसकी हत्या की गई। युआन च्वाँग तो यहाँ तक कहने को तय्यार है कि 'कर्मचारियों का एक अधिकृतवर्ग देश को अपनी मुट्ठी में रक्खे हुए है' [Beal, i. 210]।

भण्डि राज्यवर्धन का महामन्त्री था यह बात इस से भी स्पष्ट है कि मालवा के विरुद्ध रण-यात्रा करने में अकेले उसी को १०,००० अश्वारोहियों की सेना समेत राज्यवर्धन के साथ चलने की आज्ञा हुई थी [हर्ष० १८४]। और वह मलिन वस्त्रों और शत्रु के तीरों की अनियों से पूरित हृदय से युक्त [हर्ष० २२५] होकर, मालवा के राजा की उस सारी सेना को लेकर लौटा, जिसे राज्यवर्धन ने संग्राम में बन्दी किया था [हर्ष० २२७]।' बाण ने अवन्ति को 'सन्धिविग्रह का

---

१ इन दिनों राजपद पैतृक नहीं था, इस बात के अनेकों उदाहरण हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त को उसके पिता ने सिंहासन पर आरूढ होने के लिये चुना था और इस घटना से दूसरे तुल्य कुलजों को बहुत विषाद हुआ था। इस विषय में सभ्यों की भी अनुमति ली गई थी जैसा कि इलाहाबाद की समुद्रगुप्त-प्रशस्ति में कहा गया है। इसी भाँति समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी भी उसके द्वारा नियुक्त [तत्परिगृहीत] किया गया था। फ्लीट के नं० १० लेख [कुमारगुप्त का बिल्सद स्तम्भ वाले लेख] में राजा की सभा को परिषद् कहा गया है।

प्रमुख सचिव (महासन्धिविग्रहाधिकृत)' वर्णन किया है, जिसके द्वारा सम्राट् ने अपनी घोषणा निकाली थी [हर्ष० १६४]।

राज्य के कतिपय अन्य प्रधान कर्मचारियों का भी उल्लेख मिलता है। सिंहनाद हर्ष का सेनापति, उसके पिता का मित्र और उमर के अत्यन्त ढल जाने पर भी (गतभूयिष्ठे वयसि वर्त्तमानः) प्रत्येक संग्राम में अग्रसर था। हर्ष उसका बड़ा अदब करता था जैसा कि उसे अपने पिता के मित्र के साथ करना उचित था, और जब उसने गौड़ के राजा से बदला लेने और अन्य सारे दुर्ललित राजाओं को सीधा करने का प्रण किया तो सिंहनाद के ही चरण-रज की सौगन्ध खाई (शपाम्यार्यस्यैव पादपांसुस्पर्शेन-[हर्ष० १६४])। कुन्तल अश्वारोहियों का प्रधान अफ़सर (बृहदश्ववार) था, जो बड़ा कुलीन और राज्यवर्धन का अनुग्रहभाजन था [हर्ष० १८६]। स्कन्दगुप्त हर्ष की हाथियों की सेना का सेनानी (अशेषगजसाधनाधिकृत) [हर्ष० १६५] था, सम्भवतः वही अफ़सर जिसका वर्णन शिलालेखों में किया गया है, जहां वह दूतक की हैसियत में दिखाई देता है, उसे सम्राट् के पट्टों को ले जाने का काम सौंपा गया है और उसको 'महाप्रमातार महासामन्त श्री स्कन्दगुप्त [Banskhera Copperplate Inscription] कहा गया है। शिलालेखों में अक्ष पटलिक अर्थात् 'लेखा रखने वालों' के नाम भी दिये गए हैं, उदाहरण के लिये महाराज ईश्वरगुप्त (मधुवन पटल में) और महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत महासामन्त महाराज भान या भानु (बांसखेरा पटल में *Ep. Ind.* iv. 211)। लेखों को खोदने वालों के नाम, जैसे गुर्जर और ईश्वर, भी दिये गए हैं। अन्त में सम्राट् के इन शासनों के विषय में कहा गया है कि वे 'महासामन्तों, महाराजाओं, दौःसाधनिकों (जिनकी कोई व्याख्या नहीं की गई

है), प्रमातारों (जिनकी व्याख्या 'आध्यात्मिक सदस्य' की गई है), राजस्थानीयों, कुमारामात्यों, उपरिकों, विषयपतियों और व्यवस्थित और अव्यवस्थित सैनिकों (भटचाटों) जैसे भिन्न भिन्न पदों और श्रेणियों के कर्मचारियों के पास भेजे गये थे। ऊपर कहे हुए महासामन्त और महाराजा जैसे उच्चपदस्थ कर्मचारियों से परिवृत होने के कारण सम्राद् के रूप में हर्ष के उच्चपद का गौरव होता है।

युआन च्वांग हमें बतलाता है कि राज-मन्त्री और साधारण कर्मचारी दोनों ही को वेतन नक़द नहीं किन्तु जागीरों के रूप में मिलता था, जो उनके नाम पर लगे हुए ग्रामों से सुरक्षित थीं। सम्राद् ने सरकारी भूमि का एक चतुर्थ अंश 'उच्च सार्वजनीन भृत्यवर्ग की वृत्ति के लिए,' और एक चतुर्थांश 'गवर्नमेंट और राजकीय पूजा के खर्चों के लिए अलग रक्खा हुआ था [Watters, i. 176]। हमें यह भी बतलाया गया है कि 'सरकारी नौकरियों पर जो लोग लगाये जाते हैं उन्हें उनके काम के अनुसार वेतन दिया जाता है।' 'जब सार्वजनिक कामों के लिए आवश्यकता पड़ती है तो लोगों से बरबस मेहनत ली जाती है किन्तु उन्हें उसका मेहनताना दे दिया जाता है। प्रजा बेगार के लिए विवश नहीं की जाती' [Beal, i. 87]।

जहां सिविल सर्विस के लिए माल और जागीर के रूप में वेतन देने का नियम था, वहां सेना-विभाग को नक़द वेतन देने का नियम जारी किया गया था। सिपाही फ़ौजी आवश्यकताओं के अनुसार भर्ती किये जाते थे। बुलावा भेजने के बाद इनामों की घोषणा की जाती थी, और फिर रंगरूटों की भर्ती की जाती थी। सीमान्तों की रक्षा करने, दुर्दान्तों को दण्ड देने और रात को महल के गिर्द पहरा देने के काम में सेना नियुक्त की जाती थी [Beal, i. 87]।

राष्ट्रीय सेना के स्थायी वर्ग में रंगरूट उन चुने हुए शूरवीरों में से लिये जाते थे जिनका फौज़ी पेशा पुश्तैनी था। इस प्रकार युद्ध-कलाओं में वे आसानी से निपुणता प्राप्त कर सकते थे। शान्ति के समय ये कुलपरम्परागत [मौल] सैनिक महल की रक्षा के लिए उसके इर्द गिर्द रक्खे जाते थे और युद्ध-काल में सेना के अग्रभाग में चलते थे।

युआन च्वाँग ने उस समय भी भारतीय सेना को उसके चार परम्परागत अंगों से युक्त देखा। सेनापति युद्ध के हाथी पर सवार हो कर निकलता था, जिसका शरीर ज़िरह बख्तर से ढका होता था और दांतों पर नुकीली कीलें रहती थीं। उसके हाथी के नियन्त्रण के लिए उसके प्रत्येक पार्श्व में एक सैनिक होता था। चार घोड़ों से खींचे जाने वाले और दोनों ओर पदातियों से सुरक्षित रथ पर भी सेनानी ले जाया जाता था। अश्वारोही आक्रमण को रोकने के लिए अपने आपको आगे आगे फैला देते थे और इधर उधर आज्ञाएं ले जाने में बड़े उपयोगी थे। पदाती अपनी तीव्र गति के कारण बचाव के काम में सबसे अच्छे थे। वे सब छंटे हुए योधा थे। समर में आगे बढ़ती हुई पंक्ति के सन्मुख टूट पड़ने के लिए वे एक लम्बा भाला और विशाल ढाल और उनमें से कुछ तलवार या चन्द्रहास भी लिये रहते थे। अपनी कुलक्रमागत कुशलता के कारण वे लड़ाई के सारे हथियारों को चलाने में पूरे सिद्ध हस्त थे। इन हथियारों में भाले, ढाल, धनुष, बाण, तलवार, चन्द्रहास, कुठार, तोमर, प्रास, लम्बी बर्छियाँ और भाँति भाँति के गोफन [भिन्दिपाल] गिनाये गये हैं [Beal, i, 83; Watters, i. 171]।

अपनी अपार सैन्यशक्ति (जिसमें ६०,००० हाथियों और १,००,००० घुड़सवारों की स्थायी सेना थी) और शासन प्रबन्ध के होते हुए भी सम्राट् अपने विस्तीर्ण साम्राज्य के

सब भागों की समान रूप से रक्षा न कर पाता था। इस बात में उसका शासन एकच्छत्र गुप्तों के शासन की तुलना नहीं कर पाता। उनके राजत्वकाल में चीनी यात्री फाहियान एक बार भी लुटेरों से तंग हुए बिना पूर्ण रक्षा के साथ भारतवर्ष में घूमा था (सन् ४०५-११ ई०), किन्तु हर्ष के राजकाल में फाहियान के उत्तराधिकारी युआन च्वाँग, के भाग्य में इस प्रकार का सुख नहीं बदा था। एक बार पंजाब में चन्द्रभागा (चिनाब) को पार करने और शाकल नगर से बिदा होने के बाद उसे एक पलाश के जंगल से होकर जाना पड़ा जहाँ पचास लुटेरों का एक गिरोह उस पर टूट पड़ा, उन्होंने उसके सारे वस्त्र और मालमता छीन लिया और हाथ में तलवारें लेकर उसका पीछा किया यहाँ तक कि अन्त में एक खेत जोतते हुए ब्राह्मण ने, शंख और ढोल बजा कर जिससे वहाँ पर अस्सी हथियारबंद आदमी इकट्ठा हो गये, उसको बचाया [*Life* p. 73]। एक दूसरे अवसर पर हर्ष के साम्राज्य की राजधानी से अनतिदूर, उक्त यात्री अयोध्या से बिदा होकर अस्सी अन्य मुसाफिरों के साथ गंगा जी में एक नाव पर यात्रा कर रहा था। तब दस लुटेरी नावें उसके जहाज़ को खींच कर किनारे पर ले गईं। फिर युआन च्वाँग की आकृति से मुग्ध होकर और उसे अपनी देवी दुर्गा के लिए उत्तम बलि समझ कर उन दस्युओं ने उसको धर पकड़ा और उसे वेदी से बांध दिया; वे अपनी छुरियों को पैना रहे थे और यात्री अपनी अन्तिम प्रार्थना कर रहा था। इतने में एक भयंकर तूफ़ान आया और दस्युओं का हृदय दहल उठा; वे समझे देवता कुपित हो गये हैं, अतएव उन्होंने उसके बन्धन खोल दिये और बाद को उसके शिष्य हो गये [तत्रैव pp. 87 f.]। उसकी वापिसी यात्रा में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सम्राट् ने उसकी सुरक्षा के लिए उत्तर भारत

के एक राजा के अधिष्ठातृत्व में एक फ़ौजी रक्षकवर्ग तैनात कर दिया था। पर हमें ज्ञात होता है कि सिंहपुर (केतास) और तक्षशिला के बीच के देश में 'लुटेरों का दौरदौरा था' और यात्री और उसके साथियों को निरन्तर यही डर लगा रहता था कि न जाने मार्ग में कहाँ पर लूट लिये जांय। [तत्रैव,, p. 191। बाण ने भी तत्कालीन अरक्षित दशा को संकेत से सूचित किया है: वह हमें ऐसे ग्रामीणों की बात बताता है जो 'अपने पके हुए धान्य के लूटे जाने से उदास हो कर और अपनी दशाओं पर आंसू बहाते हुए यह कह कर अपने जीवन को संशय में डाल कर पास से निकलते हुए सम्राट् की निन्दा कर रहे थे—"कहाँ है राजा? क्या अधिकार है उसको राजा बनने का? कैसा राजा है वह?-(क्व राजा? कुतः राजा?. कीदृशो वा राजा?)" [हर्ष० २१२]; और वह हमें कर उघानेवालों (भोगपति) और पुलिस के आदमियों (चाट) के विरुद्ध शिकायतों की बात भी बतलाता है।

उत्पात के ये कतिपय उदाहरण जनसमूह की स्वाभाविक दशा के द्योतक नहीं हैं। स्वयं युआन च्वांग इस बात को मानता है कि 'चूंकि राजकाज नेकी के साथ होता है और लोग आपस में हिल मिल कर रहते हैं, अपराधी मनुष्यों की संख्या कम है।' भारतवर्ष के लोगों के चरित्र का अनुमान वह इस प्रकार करता है—'वे उतावली और चञ्चल प्रकृति के हैं किन्तु उनके नैतिक सिद्धान्त पवित्र हैं। वे किसी वस्तु को कभी अन्याय से नहीं लेंगे और वे न्यायानुसार जितना होना चाहिये उससे भी अधिक वैतसी वृति अर्थात् नम्रता का आश्रय लेते हैं। वे अगले जन्म में पापों का फल भोगने से डरते हैं, और इसी जन्म में आचरण का क्या फल होगा इस ओर से कुछ उदासीन रहते हैं। वे किसी के साथ छल नहीं करते और शपथपूर्वक शिरोधार्य किये हुए कर्तव्य-कर्मों

को निभाते हैं।'

ऐसे शान्ति-प्रेमी, क़ानून पर चलने वाले और सदाचारी लोगों में दण्डविधान-सम्बन्धी शासन में कोई अधिक कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी। क़ानून के उल्लङ्घन प्रायः बहुत नहीं होते थे; फिर भी हम राजाओं के विरुद्ध षड्-यन्त्रों की चर्चा सुनते ही हैं। स्वयं हर्ष के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा गया था, जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है। विद्रोह का दण्ड कोई शारीरिक सजा नहीं प्रत्युत यावज्जीवन कारावास था। 'सामाजिक सदाचार के प्रतिकूल अपराधों का, राजद्रोह का और प्रजा के लिये अयोग्य आचरण का दण्ड या तो अङ्गभङ्ग कर देना है या अपराधी को देश निकाला करके किसी दूसरे मुल्क या बीहड़ वन में भेज देना है। अन्य अपराधों का प्रायश्चित्त रुपया देकर किया जा सकता है।' दिव्य परीक्षा से सत्यासत्य का निर्णय करने की प्रथा भी प्रचलित थी [Watters. i. 171–2]। बाण शुभ अवसरों पर कारावास से क़ैदियों को छोड़ने की प्रथा का उल्लेख करता है। इस प्रकार हर्ष के जन्म के उपलक्ष में क़ैदियों को बन्धन से मुक्त किया गया था [हर्ष० १२६]। बाण के अनुसार धर्माधिकार मीमांसकों के हाथ में था [हर्ष० ७८]।

दण्ड विधान की इस कठोरता के होते हुए भी गवर्नमेंट युआन च्वांग के अनुसार 'उदार' थी अर्थात् उसका सञ्चालन दयापूर्ण सिद्धान्तों के आधार पर होता था। लोगों की स्वाधीनता और सम्पत्ति का अपहरण नहीं होता था। वह लिखता है कि 'सरकारी आवश्यकताएं थोड़ी हैं, कुटुम्बों का लेखा-जोखा नहीं रक्खा जाता और कोई आदमी बेगार देने को बाध्य नहीं है। कर बहुत हल्का होने और बेगार में बहुत कम काम लिये जाने के कारण हर एक व्यक्ति अपने पुश्तैनी पेशे को कायम रखता है और अपनी पैतृक जायदाद की

देख रेख करता है।' इसका अभिप्राय सम्भवतः यह है कि लोग केन्द्रीय अधिकारियों के उस हस्तक्षेप और नियन्त्रण से स्वतन्त्र थे जिसके कारण एकतन्त्र राज्यों की शासन पद्धति में स्थानीय स्वाधीनता और स्वराज्य का गला घोंटा जाता है।

चूँकि केन्द्रीय सरकार ने, जहां तक हो सका, प्रजा के शासन को उसी के ऊपर छोड़ दिया था, इस लिये उसको सम्हालने के लिये बहुत हल्का कर दरकार होता था और शासकवर्ग को थोड़ी सी आय से सन्तोष हो जाता था। आय का मुख्य स्रोत जैसा कि उल्लेख किया गया है, ज़मीन की उपज से था जो परम्परागत आदर्श के अनुसार फसल का छठा अंश होता था [देखो मनुस्मृति अ० ७ श्लो० १३०, १३१; अ० ८ श्लोक ३०७]। वाणिज्य व्यापार से भी आय की उपलब्धि होती थी; 'घाटों और सीमाओं पर हलके महसूल लगाये जाते थे' [तत्रैव १७६]। आय के अन्य स्रोतों के सम्बन्ध में, शिलालेखों से प्राप्त थोड़े से विवरण को छोड़कर हमें कोई ज्ञान नहीं है। मधुवन पट्ट से प्रगट होता है कि गांव से मिलने वाले राजशुल्कों में तुल्यमेय अर्थात् बिकी हुई वस्तुओं के तोल और माप पर निर्भर कर और भाग-भोग-कर-हिरण्यादि अर्थात् उपज का अंश, नक़द चुकौती और दूसरी आमदनियाँ शामिल थीं।

हर्ष के शासन की उदारता उसके व्यय से उतनी ही प्रमाणित होती है जितनी उसके हल्के कर-ग्रहण से। 'सरकारी ज़मीन (जो सम्राट् की आय का मुख्य स्रोत थी) चार भागों में बंटी हुई है; एक भाग गवर्नमेण्ट और राजकीय पूजा के ख़र्चों के लिये है, एक उच्चपदाधिकृत सरकारी नौकरों के रखने के लिये है, एक उच्च विद्वानों के पुरस्कार

के लिए और एक विविध सम्प्रदायों को दान देने के लिये है' [तत्रैव]।

शासन की सुव्यस्थित हालत का पता इससे भी लगता है कि लेखजोखों और वृत्तान्तों का एक पृथक् विभाग रक्खा गया था। 'अधिकारियों के इतिवृत्तों और सरकारी काग़ज़ों' में भले बुरे दोनों ईमानदारी से लिखे जाते हैं', और 'जनता की सम्पत्ति और विपत्ति की घटनाओं का ब्योरेवार विवरण दिया जाता है' [तत्रैव, 153]।

ग्राम्य शासन की कुछ झलक हम को हर्षचरित से उपलब्ध होती है। जब सम्राट् एक गाँव से होकर जा रहा था तो गाँव का पटवारी (अक्षपटलिक–अर्थात् पट्टों का रखने वाला) अपने सारे लेखकों (करणि) के टोल को लेकर उपस्थित हुआ और उसने कहा–'हे अवन्ध्यशासन देव, इस दिवस के लिए हमें भी कुछ आज्ञा प्रदान करें।' फिर उसने 'एक नई बनी हुई, वृषभमूर्ति से अङ्कित (जो सम्भवतः राज घराने की शैव पूजा की द्योतक थी) सोने की मुद्रा भेंट की जिस से राजकीय शासन मुद्रित किया गया [हर्ष० २०३] यहाँ पर यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि हर्ष के शिलालेख में भी महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत, 'वह आदमी जो प्रधान अक्षपटल के पद पर नियुक्त किया गया है' ऐसा वचन आता है।

यहाँ तक हर्ष की शासन-पद्धति के विषय में, जैसा स्वयं उसके जीवन और उसके समय के लेखों से ज्ञात होता है, वर्णन किया गया। पर अपने इस ज्ञान की पूर्ति हम उस युग के अन्य लेखों से तथा गुप्त राजाओं और उनके उत्तराधिकारियों के शिलालेखों से भी कर सकते हैं, जिनमें हमें उन्हीं भावों, जीवन-प्रवाह और संस्थाओं के दर्शन होते हैं जो हर्ष

के समय तक और उसके उत्तरकाल में भी जारी रहीं। इस सम्बन्ध में इस युग के समस्त शिलालेख अनुशीलन करने योग्य हैं, क्यों कि उनसे हमें उस शासन-पद्धति का जीता-जागता साङ्गोपाङ्ग पूर्ण चित्रण देखने को मिलता है जिसकी छत्रच्छाया में, जैसा कि सब इतिहासज्ञ मानते हैं, गुप्त सम्राटों से लेकर हर्ष के समय तक की चार सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि में भारतवर्ष ने एक अत्यन्त समृद्ध और प्रशान्त शासन का अच्छा परिचय प्राप्त किया।

शिलालेखों में सम्राट् और राजाधिराज के लिए प्रयुक्त उपाधियों में परमभट्टारक महाराजाधिराज [जो हर्ष के लिए उसके शिलालेखों में प्रयुक्त की गई हैं], परमेश्वर (फ़्लीट के *Gupta Inscriptions* नं० ४६ में) सम्राट् (नं० ३३, तत्रैव), एकाधिराज (नं० ३२), परमदैवत (कुमारगुप्त प्रथम के दामोदरपुर ताम्रपत्र लेखों में, *Ep. Ind.* xv. 113) और चक्रवर्ती[२] (फ़्लीट का नं० ३९) उल्लेख योग्य हैं।

सम्राट् सामन्त राजाओं के मण्डल का केन्द्र था, जो उसके तन्त्र से सम्बद्ध थे और उपग्रहों की भांति उसके चारों ओर घूमते थे। इनकी भी, महाराज, महासामन्त महाप्रतिहार, महादण्डनायक, और महाकर्ताकृतिक जैसी,

---

१ उदाहरणार्थ विन्सेंट स्मिथ के मत में 'प्राच्य पद्धति के अनुसार भारतवर्ष पर जैसा उत्तम शासन चन्द्रगुप्त द्वितीय ने किया उससे अच्छा कभी किसी ने नहीं किया'।

२ रत्नावली में हर्ष ने सम्राट् को सार्वभौम की उपाधि दी है [अङ्क ४]।

कुछ विशेष उपाधियां थीं, जिनमें सब की सब, उदाहरण के लिए हम वलभी के ध्रुवसेन प्रथम (सन् ५३५ ई०) के लिए प्रयुक्त की हुई पाते हैं। [IA. iv. 105]। हम पहले देख चुके हैं कि ये सामन्त राजा सदैव अपने अधीश्वर हर्ष की टहलबरदारी में हाज़िर रहते थे, और यही नहीं किन्तु उसकी ओर से युद्धों में भी लड़ते थे। पद में सामन्तों से अधिक ऊंचे राजा प्रत्यन्त नृपति थे, जिनका उल्लेख समुद्रगुप्त की इलाहाबाद-प्रशस्ति में है।

सामन्त राजाओं में से कभी कभी शासन के उच्चाति उच्च कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। एक लेख में कर्मचारियों के पद का क्रम सामन्त-भोगिक-विषयपति इस प्रकार दिया गया है [जयभट द्वितीय का पट्टा, *IA*, V. 119]। हर्ष के बांसखेरा लेख में महासामन्त महाराज भान का और मधुवन लेख में महासामन्त स्कन्दगुप्त और सामन्त महाराज ईश्वरगुप्त का सम्राट् के कर्मचारियों के रूप में उल्लेख किया गया है।

शिलालेखों में कर्मचारियों का और वे जिनमें नियुक्त किये जाते थे उन शासन के विभागों का क्रम दिया गया है।

साम्राज्यान्तर्गत देश राज्य (फ्लीट का नं० ५५) राष्ट्र, देश या मण्डल कहलाता था [उद्धरणों के लिए फ्लीट को देखो]। वह बहुत से शासन-सम्बन्धी विषय-विभागों के मिलने से बना था, जो शिलालेखों में सदा एक जैसे नहीं हैं। ऊंचे से नीचे की ओर वे निम्न प्रकार से मिलते हैं—भुक्ति-विषय-ग्राम। दामोदरपुर से प्राप्त पटलों से [Damodarpur Plates] ज्ञात होता है कि गुप्त साम्राज्य बहुत सी भुक्तियों या प्रान्तों में बँटा हुआ था, जिनमें से एक का

नाम पुण्ड्रवर्धन भुक्ति दिया गया है, जो स्वयं बहुत से विषयों में बंटी हुई थी जिनमें से एक का नाम कोटिवर्ष है (सम्भवतः राजशाही, दिनाजपुर, माल्दा और बोगरा ज़िलों के कुछ हिस्से)। विषय का प्रधान स्थान अधिष्ठान या नगर कहलाता था। सन् ७६८ के एक शिलालेख में (फ्लीट का नं० ३८) ग्राम-पठक-आहार (जो विषय का ही नामान्तर है और पहले पहल अशोक के लेखों में प्रयुक्त हुआ है) यह क्रम दिया गया है। अन्य शिलालेख ग्राम को सन्तक या पेठ का हिस्सा मानते हैं (देखो फ्लीट)। हर्ष का मधुवन लेख सोमकुन्दका ग्राम को श्रावस्ती की भुक्ति में कुण्डधानी विषय के अन्तर्गत बतलाता है; और बांसखेरा पटल उसके साम्राज्य में अहिच्छत्र भुक्ति का उल्लेख करता है[1]।

अब हम उन कर्मचारियों का विचार करेंगे जो शिलालेखों में इन शासन-सम्बन्धी विभागों के लिए निर्णीत किये गये हैं। सब से पहले दामोदरपुर शिलालेखों में सूबे का गवर्नर आता है जिसकी उपाधि उपरिक-महाराज है। इस सब से ऊँचे पद पर कभी कभी स्वयं राजा का लड़का भी नियुक्त किया जाता था। मौर्य सम्राटों की पद्धति का अनुकरण करते हुए सम्राट् भानुगुप्त ने अपने पुत्र देवभट्टारक को, जिसे शिलालेख में [*Ep. Ind.* xv. 142] उपरिक महाराज राजपुत्र की उपाधि दी गई है, पुण्ड्रवर्धन नाम के सूबे या भुक्ति का प्रधान नियुक्त किया। गवर्नर के लिये गोप्ता[2] [फ्लीट का नं० १४], भोगिक (जिसका पहले

---

१ गुप्त साम्राज्य की भुक्तियों के कुछ नाम शिलालेखों में दिये हुए हैं; उदाहरण के लिए, तीरभुक्ति, पुण्ड्रवर्धनभुक्ति और नगरभुक्ति।

२ 'सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन्।' यहां देश शब्द सूबे या भुक्ति

निर्देश किया जा चुका है), भोगपति [हर्षचरित पृ० २१२] राजस्थानीय (जिसका शब्दार्थ राजा का प्रतिनिधि या वायसराय है), राष्ट्रिय (रुद्रदामन् के जूनागढ़ शिलालेख में) और राष्ट्रपति [IA, vii. 63] आदि संज्ञाएं भी प्रयुक्त हुई हैं।

सूबे का गवर्नर अपने अधीन कर्मचारियों को नियुक्त करता था, जिन्हें तन्नियुक्ताः कहा गया है। वह अपने विषयपति (अथवा डिविज़न के कमिश्नर) को नियुक्त करता था जिसके लिए दामोदरपुर के लेखों में कुमारामात्य[2] [जिस का शब्दार्थ राजामात्य से भिन्न प्रान्तीय गोप्ता राजकुमार का मन्त्री समझना चाहिए (फ्लीट का नं० ४६)] और आयुक्तक की उपाधियों का प्रयोग किया गया है। आयुक्तक शब्द हर्षचरित में भी आया है [हर्ष० २१२]। हमें आयुक्तपुरुष [समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ लेख में] और विनियुक्तक [फ्लीट का नं० ३८, जहां उसकी अवर स्थिति को सूचित करने के लिए उसका उल्लेख आयुक्तकों के बाद किया गया है] पद भी मिलते हैं। सम्भवतः ये सभी सरकारी नौकरों के लिए सामान्य पद थे [अशोक के शिलालेखों के युक्तों से तुलना

के लिए आया है; इस प्रयोग के अन्य उदाहरण गुप्त शिलालेखों के सुकुलिदेश, सुराष्ट्रदेश, और दभालादेश हैं। इसी प्रकार कभी कभी विषय के लिए प्रदेश शब्द प्रयुक्त किया गया है, उदाहरण के लिए समुद्रगुप्त के एरन शिलालेख में अरिकिण को प्रदेश कहा गया है।

२ बसाढ़ मुहर पर के लेख में इस ओहदे का पूरा नाम युवराजपादीयकुमारामात्याधिकरण, मिलता है।

करो]। हर्ष के मधुवन पटल में ऊँचे कर्मचारियों की निम्नलिखित सूची दी गई है— महासामन्त, महाराज, दौःसाधसाधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय, कुमारामात्य, उपरिक और विषयपति।

जैसा पहले कहा जा चुका है विषयपतियों के सदर मुकाम अधिष्ठानों में होते थे, जिनमें उनके अपने अधिकरण, दफ़्तर और न्यायालय, स्थित थे। बसाढ़ मुहरों में एक के लेख में वैशाली के ज़िला दफ़्तर (वैशाल्याधिष्ठानाधिकरण) का उल्लेख किया गया है। हमें द्राङ्गिकों अथवा नगर के मजिस्ट्रेटों का और प्रान्तीय शासक का अपने पुत्र को नगर का अध्यक्ष नियुक्त करने का वृत्तान्त भी मिलता है [नं० १४]। स्थानीय स्वायत्त शासन के अधिकारिवर्ग में निम्नलिखित कर्मचारी थे जिनकी चर्चा भिन्न भिन्न शिलालेखों में की गई है—महत्तर (गांव के मुखिया हर्ष० २१२), अष्टकुलाधिकरण[1] (सम्भवतः गांव में आठ कुलों या कुटुम्बों के समुदायों की देख रेख करने वाले अफ़सर), और ग्रामिक (गांव के प्रधान या ग्रामणी) (दामोदरपुर पटल); शौल्किक (चुंगी या महसूल लेनेवाले) गौल्मिक (जंगलों या शायद दुर्गों की देख-रेख करने वाले, मनु ने गुल्म शब्द को दुर्ग के अर्थ में प्रयुक्त किया है); और अग्रहारिक (अग्रहारों अर्थात् देवताओं और ब्राह्मणों को समर्पण किये हुए गांवों की देख-रेख करने वाले) [फ़्लीट का नं० १२ और हर्षचरित पृष्ठ २१२]; ध्रुवांधिकरण (भूमि-कर का काम सम्हालनेवाले)

---

१ बाण ने 'पञ्चकुलःअध्यक्षः' का वर्णन किया है।

[फ़्लीट का नं० ३८]; भाण्डागाराधिकृत, अर्थात् कोशाध्यक्ष [*Ep. Ind.* xii. 75]; तलवाटक, सम्भवतः गांव का पटवारी [फ़्लीट का नं० ४६]; कर उघानेवाला, जिसे भास्करवर्मा के के एक शिलालेख में उत्खेटायित कहा गया है [*Ep. Ind.* xii. 75] और अन्त में, पटवारी जिनके लेखा-जोखा रखने पर शासन की स्थिरता निर्भर थी और जिन्हें (दामोदरपुर शिलालेखों में) पुस्तपाल और हर्षचरित में (पृ० ४२) पुस्तकृत कहा गया है; तथा अक्षपटलिक जो बन्दोबस्त के दफ़्तर में जिसे अक्षपटल कहते थे, उस विभाग के प्रधान, महाक्षपटलिक, के नीचे काम करते थे (फ़्लीट के नं० ३९ और ६०)। लेखे जोखों के विभाग में वे मुहर्रिर शामिल थे जो लेख या दस्तावेज़ लिपिबद्ध करते थे। लिखनेवाले दिविर (नं० २७), और लेखक (नं० ८०, तत्रैव) कहलाते थे। दस्तावेजों की संज्ञा करण थी जो एक करणिक या रजिस्ट्रार के यहां जमा रहते थे। जैसा पहले आ चुका है, हर्षचरित में मुहर्रिर को करणि कहा गया है। दस्तावेज़ का मज़मून तैय्यार करनेवाला अफ़सर कर्तृ (फ़्लीट का नं० ८८) या शासयितृ (भास्करवर्मा का शिलालेख, *Ep. Ind.* xii. 75) कहलाता था। इन पुस्तपालों का कर्तव्य था कि ज़मीन की मिलकियत और सीमाओं को जानें और उसके क्रयविक्रय की दशा में प्रमाण दें कि 'इस ज़मीन के दिये जाने में कोई ऐतराज़ नहीं है' (दामोदरपुर ताम्रपत्र १ और २) या यह कि '(दाख़िल-ख़ारिज की) अर्ज़ी ठीक है' (तत्रैव, ३)। उनके प्रमाण के आधार पर ही गवर्नमेंट ज़मीन के बेचने की मंजूरी देने को तैय्यार होती थी। दामोदरपुर लेखों से प्रगट होता है कि ज़मीन के दाख़िलख़ारिज से सम्बन्ध रखने वाली का-

रवाइयों की जांच-पड़ताल (प्रत्यवेक्षण) में अन्य ग्रामीण अफ़सरों अर्थात् महत्तरों, अष्टकुलाधिकरणों और ग्रामिकों से भी परामर्श किया जाता था। विशेष अधिकारों से युक्त इन अफ़सरों के अतिरिक्त ऐसे भी अफ़सर थे जिन्हें सर्वाध्यक्ष अर्थात् 'जनरल सुपरिन्टेण्डेण्ट' (फ़्लीट का नं० ५५) कहा गया है; उनके दफ़्तरों में उच्च कुल में पैदा हुए कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे, जिसका कारण प्रत्यक्षतया उनके काम का उत्तरदायित्व था। हर्षचरित में भी पृ० २२७ पर अध्यक्षों का उल्लेख किया गया है।

इन अफ़सरों के अतिरिक्त प्रबन्ध में सहायता देने के लिए स्थानीय स्वायत्त शासन में ग़ैर सरकारी अंश के लिए भी स्थान रक्खा गया था। विषयपति एक सलाहकारी की सभा की सहायता से शासन करता था (पुरोगे संव्यवहरति) जिस के सदस्य ये थे:—(१) नगर-श्रेष्ठी, जो शायद नगर का प्रतिनिधि था; (२) सार्थवाह, जो वाणिज्य-श्रेणियों का प्रतिनिधि था; (३) प्रथम-कुलिक, जो शिल्पियों का प्रतिनिधि था; और (४) प्रथम-कायस्थ, जो कायस्थों या लेखकों का प्रतिनिधि था और उपयोगी दस्तावेजों के विषय में निपुण था [दामोदरपुर पटल लेख]। मधुवन पटल में हर्ष अपने सारे प्रधान कर्म चारियों के सामने जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, और साथ ही 'व्यवस्थित और अव्यवस्थित सैनिकों, सेवकों और दूसरे लोगों के सामने और उस जगह के रहनेवालों' (भट चाट सेवकादीन् प्रतिवासिजनपदांश्च) के सन्मुख, इन सब को साक्षी करके दो ऋग्वेदी और सामवेदी ब्राह्मणों को एक अग्रहार देने की घोषणा करता है। इस प्रकार सम्राट् के एकच्छत्र शासन में लोक प्रतिनिधि शासन का मिश्रण होने से सरसता का पुट आ गई थी।

जब राजा इस प्रकार की अपनी आज्ञाओं को आप सुनाता था तो वे स्वमुखाज्ञाएं कहलाती थीं। कभी कभी राजा स्वयं उन पर हस्ताक्षर करता था। बांसखेरा पट्टे पर स्वयं हर्ष ने हस्ताक्षर किये हैं और उसमें कहा गया है कि यह शासन 'मेरे अपने हस्ताक्षर और मुहर के साथ दिया गया है'[1] (स्वहस्तो मम महाराजाधिराज श्रीहर्षस्य)।

किन्तु राजा की आज्ञाएं अधिकतर दूतकों, दूतों या आज्ञा-दापकों के द्वारा स्थानीय अफ़सरों के पास पहुँचाई जाती थीं जो आवश्यक पट्टा लिखकर दानपात्र को या उन पार्टियों को देते थे जिनका उससे सरोकार हो [निदर्शनों के लिए फ़्लीट को देखो]। इस प्रकार राजा का 'मुखिया' होने के कारण दूत का पद बड़े विश्वास और जिम्मेवारी का पद था और तदनुसार वह राजस्थानीय या उपरिक के ओहदे के ऊँचे कर्म-चारियों को दिया जाता था [तत्रैव]। ज़मीन के दान की स्वीकृति देनेवाले राजकीय शासन प्रायः ताम्रपत्रों पर खोदे जाते थे और खोदनेवाला सेक्यकार कहलाता था [*Ep. Ind.* xii. 75]।

अन्य सिविल अफ़सरों में उनका उल्लेख कर देना उचित होगा जो राजपरिवार से संलग्न थे, अर्थात् प्रतीहार, महा-प्रतीहार (महल का प्रधान रक्षक या द्वारपाल), विनयासुर जिसका काम राजा को आगन्तुकों की ख़बर देना और उन्हें उसके पास पहुँचाना प्रतीत होता है[2] [Arch Sur. Rep., 1903, p. 102], स्थपतिसम्राट्, सम्भवतः अन्तःपुर की देख-

१ बाण अंगुलिमुद्रा को शासनवलय कहता है।

२ बाण प्रतीहार को उत्सारण और कञ्चुकी को प्रतीहार, उत्सारक और समुत्सारक कहता है।

रेख करनेवाला. [फ़्लीट का नं० २६; मिलाइये अशोक के लेखों में वर्णित स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र], प्रतिनर्तक [फ़्लीट, नं० ३६] अर्थात् चारण या भाट और इन्हीं जैसे अन्य।

कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए भी फ़ौजी और कार्यनिर्वाहक अफ़सर दरकार होते थे। उच्च कर्मचारियों में निम्नलिखित अधिकारी शामिल थे,—महाबलाधिकृत और बलाधिकृत जो हर्षचरित [पृ० २०४] में भी प्रयुक्त किये गये हैं; महाबलाध्यक्ष, और बलाध्यक्ष; भटाश्वपति, अर्थात् पदातियों और अश्वारोहियों का सेनानी (जिसका उल्लेख एक बसाढ़ मुद्रा-लेख में किया गया है; कटुक [हाथियों का सेनानी, जिसका वर्णन हर्षचरित पृ० २०४ में किया गया है]; और बृहदश्ववार, 'अश्वारोहियों का प्रधान अफ़सर (जिसका उल्लेख बाण ने किया है); महासन्धिविग्रहिक (शान्ति और संग्राम का निश्चय करनेवाला अफ़सर, सम्भवतः विदेश-सचिव) और सान्धिविग्रहिक [हर्षचरित पृ० १६४]; महासर्वदण्डनायक और सर्वदण्डनायक; महादण्डनायक[1] (चीफ़ जस्टिस अथवा दण्ड निर्णय करनेवाला प्रमुख अफ़सर); दण्डपा-

[1] महादण्डनायक गुप्त और उत्तरकालीन शिलालेखों के सब से अधिक प्रचलित शब्दों में से एक है और कई शताब्दियों तक (चौथी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक जैसा कि नीचे दिखलाया गया है) प्रयुक्त होता रहा और इससे प्राचीनतर काल में भी इसके अस्तित्व का पता लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए कुशान सम्राट् हुविष्क के एक मथुरा शिलालेख में भी यह मिलता है [Inscription No. 3 in *JRAS*, 1924, p. 402 जहां इस लेख का पं० दया राम साहनी ने संशोधित पाठ दिया है।

शिक(पुलिसवाला), दण्डिक और चौरोद्धरणिक(चोरों का पता लगानेवाले अफ़सर) [निदर्शन के लिए देखो फ्लीट, विशेष करके नं० ४६]। बसाढ़ मुद्राओं में से एक में युद्ध आफ़िस के लिए एक पृथक् कोशाध्यक्ष (रण-भाण्डागाराधिकरण), और विनय और सदाचार की स्थापना के लिए एक कार्य-वाहक अफ़सर (विनयस्थितिस्थापक का उल्लेख किया गया है। वह एक प्रान्तिक अफ़सर था, जिसके विषय में इस मुद्रालेख में कहा गया है कि वह सारे तिरहुत (तीरभुक्ति) प्रान्त के लिये गुण-दोष-विवेचक नियुक्त किया गया था। हर्षचरित में 'सिपाहियों के डेरों के अध्यक्षों' की चर्चा की गई है जो पाटीपति कहलाते थे, [पृ० २०४], और साथ ही रात को चौकसी करने वाली स्त्रियों (यामचेटियों) का भी ज़िक्र है [पृ० २०४]।

इन ऊंचे ओहदों में से कभी कभी कई पद मिला कर एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे। समुद्रगुप्त की अधीनता में हरिषेण एक साथ ही उसका सान्धिविग्रहिक, कुमारामात्य और महादण्डनाक भी था। वे कभी कभी कुलक्रमागत भी होते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के अधीन सचिव (विदेशी मंत्री) के पद पर और कुमारगुप्त प्रथम के अधीन दशपुर के गोप्ता [गवर्नर] के पद पर पैतृक अफसर थे। [फ़्लीट के नं० ६ और १८]।

अब हम आर्थिक व्यवस्था और विशेष करके आय के स्रोतों से सम्बन्ध रखनेवाली प्रमाण-सामग्री पर विचार करेंगे। आय के स्रोतों का चयन उनशिलालेखों से किया जा सकता है जिनमें उस समय के भूमि-सम्बन्धी दानों का

लेखा है। इसके लिए हम सन् ५७१ और ७६६ ई० के दो पटल नमूने के बतौर ले सकते हैं। यह काल ही हर्ष का युग है (फ़्लीट के नं० ३८ और ३६)। पहले में आय के स्रोतों का उल्लेख इस प्रकार है—(१) उद्रङ्ग, सम्भवतः भूमि-कर; (२) उपरिकर, वह कर जो उन किसानों पर लगाया जाता था जिनके ज़मीन पर मिलकियत सम्बन्धी स्वत्व नहीं होते थे; (३) वात (इसकी कोई व्याख्या नहीं दी गई है); (४) भूत (सम्भवतः वात से भिन्न उपज); (५) धान्य; (६) हिरण्य (सोना) (७) आदेय (जो समर्पण करना पड़ता है); (८) विष्टिक (आवश्यकता पड़ने पर ली जानेवाली बेगार), जिनमें दूसरे शिलालेख में ये और जोड़ दिये गये हैं—(९) दशापराध [दस अपराधों के कारण लिए जानेवाले जुर्माने अर्थात् (अ) चोरी, जारी और हत्या के तीन शारीरिक अपराध; (ब) कठोर वचन, मिथ्यावचन, अपमानसूचक वचन और बेतुके वचनों के चार वाचिक अपराध; और (स) दूसरे के माल का लालच करना, पाप का चिन्तन करना और जो असत् है उसकी भक्ति, ये तीन मानसिक अपराध]; (१०) भोग; (११) भाग (हिस्सा)। राज्य की ओर से किसी गाँव पर कौन कौन से बन्धन होते थे यह बात फ़्लीट के गुप्त शिलालेखों के नं० ५५ से भली भाँति सूचित हो जाती है, यद्यपि वहाँ वे एक ऐसे गाँव के विषय में निषेध के रूप में कहे गये हैं जो राजा के पट्टे के द्वारा इन करों से मुक्त हो गया था; लिखा है—'उसे कर न देने पड़ेंगे (अकारदायी); वह व्यवस्थित सैनिकों (भट) और पुलिस (चाट) से तंग न किया जायेगा; उसे अपनी गायों और बैलों की वृद्धि का हिस्सा न देना पड़ेगा; और न अपने फूलों या दूध, चरागाहों,

चमड़े और कोयले की उपज का हिस्सा; न नमक या ऊद नमक पर, क्रय और विक्रय पर अथवा खानों की उपज पर कोई कर देने पड़ेंगे; उसे बेगार न देनी पड़ेगी, अपने छिपे हुए कोशों और निधियों, क्लृप्त और उपक्लृप्त का समर्पण न करना पड़ेगा।' इस विवरण से मालूम होगा कि आजकल के उत्तम से उत्तम अर्थपण्डित भी इन करों के सीगों में सुधार करने में असमर्थ होंगे!

ग्रामों की आर्थिक सुव्यवस्था का मूल ज़मीन के उत्तम बंदोबस्त पर अवलम्बित है। 'बन्दोबस्त' का एक नमूना सन् ५७१ ई० के फ़्लीट के नं० ३८ में दिया गया है। ज़मीन की पैमाइश होती थी, उसे नापा जाता था और हिस्सेदारियों में विभक्त किया जाता था, जिन्हें प्रत्यय[1] कहते थे, और उनकी सीमाएं[2] निर्धारित की जाती थीं। माप पाद अर्थात् लगभग दो फुट के पैमाने से होती थी। केदार भिन्न भिन्न परिमाणों अर्थात् १०५, १०० और ६० पदावर्तों के होते थे और उनके साथ साझी ज़मीनें भी दी जाती थीं जो पद्रक कहलाती थीं, और कभी कभी उनमें सिंचाई के कुँए (वापी) भी होते थे जिनका क्षेत्रफल २८ पादावर्त होता था। हिस्सेदारों के नाम गाँव के खसरों में दर्ज किये जाते थे और उनमें हिस्सेदारियों की सीमाएं भी दी जाती थीं; ये सीमाएं एक पृथक् श्रेणी के अफ़सरों से स्थिर की जाती थीं, जिन्हें सीमाकर्मकर [फ़्लीट के नं० ४६ में उल्लिखित] या सीमाप्रदाता [जो भास्करवर्मा के एक शिलालेख में दिया गया है, *Ep. Ind.* xii. 75] कहते थे। ज़मीन की पैमाइश और नाप करनेवाला अफ़सर प्रमाता

१ बाण छोटी हिस्सेदारियों को केदारिक कहता है।

२ जिन्हें बाण ने परिहार और मर्यादा कहा है।

कहलाता था। हर्ष के बांसखेड़ा पटल में स्कन्द गुप्त को महा-प्रमातार कहा गया है। एक और अफ़सर भी होता था जिसे न्यायकरणिक कहते थे [तत्रैव]: 'उसका काम इस सम्बन्ध में जांच पड़ताल और पंचायत करना होता था कि सीमाएं ठीक निर्धारित हुई हैं या नहीं, और वह सारे विवादास्पद मामलों का निपटारा करता था।'

चूँकि शासन का मूल आधार गाँव था, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र के अन्तर्गत सारे गाँवों की संख्या की गिनती की जाती थी। हर्ष के महान् समकालीन और प्रतिस्पर्धी पुलकेशी द्वितीय के ऐहोल शिलालेख में लिखा है कि उसके महाराष्ट्र के साम्राज्य के तीन विभागों में ९९,००० गाँवों की बड़ी भारी संख्या थी।

गाँव की नाप एक शिलालेख [फ़्लीट का नं० ५५] से भी सूचित होती है, जहाँ कहा गया है कि 'भोजकट राज्य में मधुनदी के तट पर का चर्मारिक नाम का गाँव, जिसकी माप राजसी परिमाण के अनुसार ८,००० भूमि थी,' १,००० ब्राह्मणों को दिया गया था, ताकि एक अकेले घर के हिस्से में ८ भूमियां आ सकें[1]।

१ यदि हम थोड़ा आगे पीछे दृष्टि डालें (जैसी कि इतिहास में उचित है) तो हम देखेंगे कि शासन से सम्बन्ध रखनेवाले अधिकांश कर्मचारियों के नाम गुप्तों से लेकर हर्ष से होते हुए उससे भी अधिक उत्तरकालीन समय तक प्रचलित थे। उदाहरण के लिए, एक लेख में, जो ग्यारहवीं शताब्दी में रक्खा गया है [भोजवर्मदेव का बेलव ताम्र-पत्र लेख जो पूर्वी बंगाल में राजा के विक्रमपुर के शिविर से लिखाया गया था (*Ep. Ind.* xii. 37)] निम्नलिखित अफ़सरों का उल्लेख किया गया है—राजामात्य, पुरोहित, पीठिकावित्त (जिसकी कोई व्याख्या नहीं की गई है), महाधर्माध्यक्ष (चीफ़ जस्टिस), महासन्धि-

अन्त में, हर्ष के शासन के सम्बन्ध में उसके सिक्कों और उसकी राजनैतिक स्थिति पर वे जो प्रकाश डालते हैं उस पर विचार करना उचित होगा। श्रीमान् आर० बर्न, सी० एस० आई०, आई० सी० एस०, ने कुछ उपलब्ध चाँदी के सिक्कों का वर्णन किया है [*JRAS.*, 1906, p. 843 f.]

विग्रहिक, महासेनापति, महामुद्राधिकृत (राजसी मुहर को रखनेवाला), अन्तरङ्गबृहदुपरिक [चीफ़ प्रिवि कौंसिलर अथवा राज-वैद्य–'विद्याकुल-सम्पन्नो हि भिषगन्तरङ्ग इत्युच्यते' (चक्रदत्त पर शिवदास की टीका)], महाक्षपटलिक, महाप्रतीहार, महाभोगिक, महाव्यूहपति, महापीलुपति [प्रधान हस्तिपाल], महागणस्थ [२७ हाथियों, २७ रथों, ८१ घोड़ों और १३५ पदातियों के गण नामक दल का सेनानी; एक गुल्म-दल जिसमें ६ हाथी, ६ रथ, २७ घोड़े और ४५ पदाती होते थे], दौस्साधिक (गाँवों का सुपरिंटेन्डेंट), चौरोद्धरणिक, समुद्री बेड़े [नाव], हाथियों, घोड़ों, गायों, भैंसों, बकरियों, भेड़ों, इत्यादि के इन्स्पेक्टर या अध्यक्ष, गौल्मिक, दण्डपाशिक, दण्डनायक, विषयपति और राजा के अन्य आश्रित जिनका उल्लेख अध्यक्षों की प्रामाणिक सूची में किया गया है। एक और किञ्चित् उत्तरकालीन शिलालेख, अर्थात् बल्लालसेन के नैहाटि पट्टे, में भी इन कर्मचारियों के नाम शब्दशः दोहराये गये हैं [*Ep. Ind.* xiv. 160]। इन नामों में से केवल कतिपय नाम, जो रेखाङ्कित हैं, नये हैं। यहाँ पर इतना और उल्लेख कर देना उचित होगा कि इन शिलालेखों में प्रान्त के लिए वही पुराना गुप्त शब्द भुक्ति है, पर भुक्ति और ग्राम के बीच के शासन-सम्बन्धी विभागों के लिए नये शब्द, अर्थात् मण्डल (ज़िला) और खण्डल (तहसील), प्रयुक्त किये गये हैं।

इस युग की एकच्छत्र-शासन-पद्धति के ऊपर दिये हुए विवरण से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अथवा अशोक के लेखों या

जिनमें से ६ श्र प्रतापशल अर्थात् श्री प्रतापशील के, २८४ श्री शलदत अर्थात् शीलादित्य के हैं और एक हर्श (हर्ष) का है। इन शीलादित्य सिक्कों का पूरा लेख इस प्रकार है—'विजितावनिरवनिपति श्री शीलादित्य दिवं जयति,' पृथिवी का विजेता और पति श्री शीलादित्य स्वर्ग को जीतता है। इस प्रकार ये प्रतापशील और शीलादित्य सिक्के[1] प्रतापशील और उसके पुत्र हर्ष के चलाये हुए सिक्के माने जा सकते हैं, क्योंकि

अन्य लिखित प्रमाणों में मौर्यों की एकच्छत्र-शासन-पद्धति के जिस युग का वर्णन किया गया है उसे हम बहुत पीछे छोड़ चुके हैं। वहाँ भिन्न भिन्न अफ़सरों या शासन-सम्बन्धी विभागों के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है वे उत्तरकालीन शासनों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों से प्रायः बहुत भिन्न और अधिक पुराने हैं। उदाहरण के लिए हम कौटिल्य के १८ तीर्थों या राज्य के प्रधान कर्मचारियों के नामों को स्मरण कर सकते हैं जो इस प्रकार हैं—मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तर्वांशिक, प्रशास्तृ, समाहर्तृ, सन्निधातृ, प्रदेष्टृ, नायक, पौरव्यावहारक, कार्मान्तिक, मन्त्रिपरिषदध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तपाल और आटविक; अथवा स्थानीय और ग्रामीण अफ़सरों के गोप और स्थानिक जैसे नाम; अथवा गुप्तचर संस्था में काम करने वाले जासूसी अफ़सरों की भिन्न भिन्न श्रेणियां, जो मौर्य शासन की एक स्पष्ट विशेषता थी; अथवा महामात्र, धर्ममहामात्र, स्त्री-अध्यक्षमहामात्र, अन्तमहामात्र, राजूक, प्रतिवेदक, प्रादेशिक और युक्त जैसे अफ़सरों के नाम जिनका उल्लेख हम अशोक के शिलालेखों में पाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शासन के कार्य युग युगान्तर में एक जैसे रहे किन्तु काम करने वालों के नामों और कार्यक्षेत्रों में भिन्नता आ गई।

१ इन सिक्कों में से कुछ पर श्रीयुत बर्न ने [JRAS, 1906, p. 850] ३१ और ३३ संवत् पढ़े हैं।

बाण के कथनानुसार प्रतापशील नाम प्रभाकरवर्धन ने अपनी विजयों के कारण प्राप्त किया था और, जैसा युआनं च्वांग हमें बतलाता है, शीलादित्य हर्ष का उपनाम था। किन्तु डाक्टर हार्नले को निम्न लिखित कारणों से इन सिक्कों के प्रभाकरवर्धन और हर्ष के होने में सन्देह है [*JRAS*, 1909, p. 446 f.]–(१) राजतरङ्गिणी [अ० ३, ५–३३०] को एक प्रतापशील ज्ञात है जो शीलादित्य भी कहलाता था: वह विक्रमादित्य का लड़का था: इस विक्रमादित्य की तदीयता डा० हार्नले ने यशोधर्म के साथ की है, जो हूण राजा मिहिरकुल (सन् ५२८) के अत्याचार का प्रतिरोध करनेवाली संयुक्त शक्तियों का मुखिया था, और (२) हर्षचरित को यह ज्ञात नहीं है कि हर्ष ने शीलादित्य उपाधि धारण की थी। यद्यपि इन ऐतराजों में कुछ सार है तथापि इससे श्रीयुत बर्न का परिणाम अग्राह्य नहीं हो जाता जो कई प्रबल विचारों से परिपुष्ट होता है–प्रथम प्रभाकरवर्धन के साथ प्रतापशील की एकता, जैसा कि बाण ने कहा है; दूसरे, हर्ष के साथ शीलादित्य का तादाम्य जैसा कि युआन च्वाँग ने कहा है, जो बाण की अपेक्षा कम श्रद्धेय इतिवृत-लेखक नहीं होगा; तीसरे, सिक्कों पर की श्रुतियां जो प्रभाकरवर्धन और हर्ष जैसे राजाओं की स्थिति की द्योतक हैं; चौथे, इन सिक्कों का प्राप्ति-स्थान[1] जो सब

१ किन्तु सिक्कों के प्राप्तिस्थान की युक्ति, प्रासङ्गिक बात को सिद्ध करने में सब से पोच दलील है। चूँकि सिक्के और ताम्रपत्र छोटे होते हैं और आसानी से ले जाये जा सकते हैं। अतएव वे उत्पत्ति स्थान से दूर दूर तक भी पहुँचाये जा सकते हैं। और इस कारण शिलालेखों की अपेक्षा इस सम्बन्ध में इनकी प्रामाणिकता बहुत घट कर है। उदाहरण के लिये हम यहां पर मौखरि राजा शर्व वर्मा की मुद्रा का निर्देश कर सकते हैं जो मध्यप्रदेश के अन्दर नीमड ज़िले

हर्ष के निजी राष्ट्र की सीमाओं के अन्दर और उसके मित्र मौखरियों के सिक्कों के साथ पाये गये हैं। इन युक्तियों के पोषण में यह भी विचार करने योग्य है कि इन सिक्कों की बनावट भी, जिनकी एक तरफ़ एक बड़ा सिर और दूसरी तरफ (लंबे लेखों सहित) एक मोर दिखलाया गया है, ईश्वर-वर्मा और मौखरि राजाओं के सिक्कों से मिलती है और गुप्त सिक्कों के ढंग पर है। डा० हार्नले को निश्चय है कि एक और भी सिक्का हर्ष का है [*JRAS.* 1903, p. 547]। यह कनिंगहम के मध्यकालीन भारत के सिक्कों के प्लेट ५ में नं० २१ सिक्का है जिसके मुख पर 'हर्षदेव' लेख सहित एक घुड़सवार का चित्र और पृष्ठ पर एक सिंहासन पर बैठी हुई देवी का चित्र दिया गया है जिसके बांये हाथ में ऋद्धि-शृंग [Horn of Plenty या Cornucopia] है। बाण के हर्षचरित में तथा नौसारी दानपत्र और अफसद शिला लेख [*IA.*, xiii. 73, 79] आदि कुछ लेखों में हर्ष को हर्षदेव कहा गया है। टिकी हुई बर्छी समेत अश्वारोही के लाक्षणिक चिह्न को हार्नले ने 'आरम्भिक राजपूतों अर्थात् हिन्दू बने हुए हूणों, कुशानों और अन्य आक्रमणकारियों का चिह्न माना है, 'और थानेसर के राजा भी राजपूत थे' [*Ep. Ind.* i. 68]। सिंहासन पर आसीन देवी से युक्त प्रस्तुत सोने के सिक्के का ढंग उन सिक्कों से मिलता जुलता है जो उन बड़े और छोटे कुशानों में प्रचलित थे जिन्होंने तीसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक गन्धार और पंजाब में शासन किया।

सिक्कों के अतिरिक्त हर्ष ने मुहरें भी चलाईं, जिनमें से दो के टुकड़े नालन्दा की खुदाई में निकले थे और जिन पर के

के असीरगढ़ नामी गाँव में, और इसलिये अपने उत्पत्ति-स्थान से सैंकड़ों मील दूर पश्चिम की ओर, पाई गई थी।

लेख बहुत मिट गये हैं । दोनों ही पर '(पर) म माहेश्वरः महेश्वरैव सार्व(भौमः) (परमभ)ट्टारक महाराजाधिराज श्री हर्षः' का उल्लेख है और सम्भवतः उनमें हर्ष के पूर्वाधिकारियों और पूर्वजों के नाम भी दिये हुए थे जो राज्यवर्धन के नाम को छोड़ कर इन टूटी हुई मुहरों पर विलुप्त हो गये हैं [Arch. Survey Report Eastern Circle, 1917-18, p. 44] । हर्ष की दूसरी ज्ञात मुहर विख्यात सोनपत ताम्र-मुद्रा है जो असल में एक ताम्रपटल का अङ्ग थी, जैसा कि उसके पीछे के जोड़ के निशान से प्रगट होता है । मुहर के ऊपरी भाग में एक बैल बना है जो दाहिनी ओर मुंह करके बैठा हुआ है । यही निशान ऊपर कही हुई नालन्दा की मौखरि मुहरों पर भी पाया गया है ।

पांचवाँ अध्याय

धर्म और विद्या ।

हर्ष के राज्य और शासनपद्धति के वर्णन के उपरान्त अब हम उसके समय देश की जो दशा थी उस पर विचार करना चाहते हैं, जिसके लिए सौभाग्य से युआन च्वाँग के विवरण में प्रचुर सामग्री मिलती है । तत्कालीन भारत की 'धार्मिक और भौतिक उन्नति' [Moral and Material Progress] का युआन च्वाँग ने जो वर्णन दिया है वह प्रशंसनीय है । यह सामग्री बहुत अधिक है अतएव विषय को सामान्यतः हृदयंगम कराने के लिए हम केवल थोड़े से उद्धरण देकर ही संतोष करेंगे ।

प्रथम तो चीनी यात्री का यहाँ आना ही तत्कालीन-भारतवर्ष की धार्मिक उन्नति और महत्त्व की सिद्धि के लिये एक ज़बरदस्त प्रमाण है । वह सिर्फ़ प्रमोद वश सैर-सपाटा करने भारत में नहीं आया था, किन्तु मोक्ष-ज्ञान के जिज्ञासु के रूप में एक पुनीत और आध्यात्मिक प्रयोजन को दृष्टि में रख कर वह यहाँ पधारा था । उस ज्ञान पर उस समय सारे एशिया में भारतवर्ष का एकान्तिक अधिकार था । इस प्रकार स्थल मार्ग से चीन से भारत की यात्रा करते समय प्रकृति और मनुष्य दोनों ही से उपस्थित की जानेवाली कठिनाइयों और भीतियों का पहाड़ भी युआन च्वाँग और उससे पूर्व के चीनी विद्वानों के भारतीय विद्या और ज्ञान को प्राप्त करने के उत्साह पर पानी न डाल सका । वस्तुतः कनिष्क के समय से बंगाल के धर्मपाल के समय तक, प्रायः दस शताब्दियों की अवधि में, उत्सुक चीनी विद्यार्थियों का संतत प्रवाह भारतवर्ष और उसके विश्वविद्या-

लयों की ओर यहां के विद्याम्बुधि आचार्यों के चरणों में बैठकर अपनी ज्ञान-पिपासा तृप्त करने के लिए बराबर आता रहा। भारतवर्ष के साथ चीन के इस संस्कृति-सम्बन्धी सम्पर्क का इतिहास उस प्रगति के केवल तीन अत्यन्त प्रसिद्ध ज्ञानी प्रतिनिधि अर्थात् फ़ाहियान, युआन च्वाँग और इत्सिंग की कृतियों में संनिविष्ट है, यद्यपि इतिहास में अप्रसिद्ध और भी अनेकों विद्यार्थी यहाँ आये थे। इन चीनी मनीषियों की भारत यात्रा यहां के ज्ञान के समक्ष एक श्रद्धाञ्जलि है; इस ज्ञान का विस्तार भारत की भौगोलिक सीमाओं को पार करके अनेक देशों तक फैल गया था। उत्तर की पर्वतमाला और दक्षिण की सागरमेखला से अतीत इन देशों के समुच्चय को हम उस समय का बृहत्तर भारत कह सकते हैं जिसमें ज्ञानधर्मकृत ऐक्य था।

यद्यपि युआन च्वाँग का केवल बौद्ध धर्म से अनुराग था, और वह भी उसकी एक शाखाविशेष अर्थात् महायान बौद्धधर्म से, तथापि उसने अन्य बौद्ध शाखाओं और सम्प्रदायों की दशा और साथ ही प्रचलित ब्राह्मण धर्म और संस्कृति का विस्तृत वर्णन किया है। मालूम होता है कि गुप्त सम्राटों ने आर्य धर्म को जो गति प्रदान की थी उसके कारण वह उस समय सबसे अधिक प्रबल था। युआन च्वाँग हमें बतलाता है कि उन दिनों भारतवर्ष विदेशियों को ब्राह्मणों के देश (ब्रह्मावर्त्त) के नाम से ज्ञात था, जो 'देश की भिन्न भिन्न जातियों और उपजातियों में सबसे अधिक पवित्र और प्रतिष्ठित' थे [Watters, i. 140] । ब्राह्मण धर्म की प्रधानता चीनी यात्री के इस कथन से भी सिद्ध होती है कि सम्मानित लोगों की भाषा संस्कृत थी। अत्यन्त प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् भी उसी में अपने ग्रन्थ रचते थे। बोलने और लिखने दोनों

प्रकार की उत्तम संस्कृत 'मध्यदेश'[1] में प्रचलित थी, जहाँ के लोग 'बोली में स्पष्टता और शुद्धता के लिए सबसे बढ़ चढ़े थे, उनकी शब्दावली सुरीली और ललित थी और उनका वर्णोच्चारण व्यक्त और स्पष्ट होता था जो दूसरे लोगों को प्रमाण और आदर्श का काम देता था।' 'ब्रह्मावर्त' के बाहर मूल-स्रोत और आदर्श में भिन्नताएं आ गई थीं। पड़ोसी प्रदेशों और विदेशी मुल्कों के लोग अशुद्धियों को यहां तक दोहराते गये कि अन्त में वे स्वाभाविक समझी जाने लगीं, और अपभ्रंश प्रयोगों के शौक के कारण उनमें शुद्ध शैली का लोप हो गया।' [तत्रैव, 153]। ब्राह्मण धर्म का प्रभाव उस काल के अनेकों तापस-सम्प्रदायों से जाना जाता है, जो बाहरी चिह्नों के द्वारा एक दूसरे से अलग पहचाने जा सकते थे। 'कोई मोर के पंखों को धारण करते हैं; कोई कपालों की माला पहनते हैं; कोई बिल्कुल नंगे रहते हैं; कोई शरीर को घास या बल्कलों से ढांपते हैं; कोई अपने बालों को नोच डालते हैं और मूछों को मूंडते हैं; कोई अपने पार्श्ववर्ती बालों को जटिल करके चोटी पर उनका एक जूट बना डालते हैं। उनका कोई निश्चित वस्त्र नहीं होता और रङ्ग भी पृथक् होता है [तत्रैव, 148]। कुछ ऐसे भी होते थे जो 'अपने शरीर पर भभूत लगाते थे' [तत्रैव, ii. 47], और साथ ही ऐसे भी थे जो दिगम्बर और पांशुपत कहलाते थे [तत्रैव i. 123]। बाण ने भी अनेकों ब्राह्मण-सम्प्रदायों और मतों का उल्लेख किया

१ मूल में mid–India शब्द है जो सरस्वती से प्रयाग तक के देश का नाम है। पतञ्जलि ने उदीच्य और प्राच्य देशों के मध्यवर्ती इस प्रदेश के लिये प्राच्य मध्य शब्द का उल्लेख किया है। चीनी यात्री का तात्पर्य इसी प्रदेश की संस्कृत भाषा की ओर सङ्केत करना है। हमने इसी कारण mid–India का अनुवाद मध्यदेश किया है।

है, यथा वीतराग आर्हत, मस्करी, श्वेतपट भिक्षु, भागवत, वर्णी, केशलुञ्चक, कापिल, जैन, लोकायतिक, काणाद, औपनिषद (वेदान्ती), नैयायिक, धातुवादी, धर्मशास्त्री, पाञ्चरात्रिक आदि [हर्ष० २३६] एक और स्थल पर बाण अपने मित्रों की सूची में [हर्ष० ४२] तपस्विनी विधवाओं, पाराशर भिक्षुओं, जैन साधुओं शैव भक्तों का उल्लेख करता है। अन्यत्र वह कर्पटी (चीथड़े पहनने वाले तपस्वियों), काष्ठमुनि (स्तम्भ पर रहने वाला योगी), दग्धमुण्ड, पाण्डुरी और पिण्डपाती जैसे भिन्न भिन्न प्रकार के यतियों की चर्चा करता है। इनके अतिरिक्त शिव और शक्ति के उपासक, कापालिक सम्प्रदाय [*Life* p. 159], और दुर्गा के भक्त भी थे [तत्रैव, p. 87]। युआन च्वाँग ने अन्यत्र भिन्न भिन्न नास्तिक शाखाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है [तत्रैव p. 161]—'भूत निर्ग्रन्थ, कापालिक और जूटिक या चूडांकित (चुदिङ्क) (जटाधारी तपस्वी), सब भिन्न भिन्न वस्त्र पहनते हैं। सांख्यों और वैशेषिकों का परस्पर विरोध है। भूत तपसी अपने शरीर को अंगारों से ढांपते हैं……निर्ग्रन्थ नंगे फिरते हैं………कापालिक लोग अपने सिर और गले पर हड्डियों की मालाएं धारण किए हुए पर्वत की कन्दराओं और बिलों में रहते हैं………चिगकिआओं (चुदिङ्कों) का तो यह हाल है कि वे मल से दूषित वस्त्र पहिनते हैं और गला-सड़ा भोजन खाते हैं।'

किन्तु तपस्वियों की इन भिन्न भिन्न श्रेणियों के दिखावटी चिह्नों में निःसन्देह कुछ तत्त्व नहीं था। उसका आन्तरिक ज्ञान उनकी विशेषता थी जिसे यात्री ने ज़ोरदार शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

'ऐसे मनुष्य भी हैं जो, प्राचीन ज्ञान में बहुत पहुँचे हुए

और विद्या-सम्बन्धी सूक्ष्म तत्त्व के प्रेमी होने से एकान्त में सन्तुष्ट रहते हैं और संयम से जीवन निर्वाह करते हैं। ये सांसारिक झमेलों से बाहर जा कर रहते हैं और दुनियादारी से अलग अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त करते हैं। वे स्तुति अथवा निन्दा से विचलित नहीं होते और उनका यश दूर दूर तक फैला हुआ है।

'चाहे उनका परिवार समृद्ध दशा में ही क्यों न हो, पर ये ज्ञानार्थी लोग घुमक्कड़ों की तरह रहने का संकल्प कर लेते हैं और इतस्ततः फिरते हुए भीख मांग कर निर्वाह करते हैं। सच्चाई को जानने में उनकी प्रतिष्ठा है, अकिञ्चन रहने से उनकी कुछ हेठी नहीं होती।

'शासक उनके साथ शिष्टाचार और आदर से बरतते हैं और उन्हें अदालत में आने के लिए विवश नहीं करते। चूंकि राज्य में पढ़े-लिखे और प्रतिभाशाली पुरुषों की क़दर होती है और लोग उन मनुष्यों का अदब करते हैं जो ज्ञान में बहुत बढ़े चढ़े होते हैं, इस लिए ऐसे मनुष्यों के आदर सत्कार और बड़ाई की प्रत्यक्षतया खूब धूम रहती है और सरकारी तथा ग़ैर सरकारी लोग उनकी खूब खातिरदारी करते हैं। अतएव पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए लोग जी तोड़ परिश्रम करने में अपने मन को लगा सकते हैं।'

तापस भाव की यह वृद्धि और राजा और प्रजा से मिलने वाली उसकी प्रतिष्ठा और प्रोत्साहन से भारतवर्ष की नैतिक उन्नति भली प्रकार सिद्ध होती है। भारत में ऐसे लोगों की कमी नहीं था जो सम्पत्ति, गृह-सुख, सामाजिक जीवन के आमोद-प्रमोद, यहां तक कि यशो-लिप्सा ('उदात्त मस्तिष्कों की उस अन्तिम निर्बलता') को भी ज्ञान की साधना में बाधक होने के कारण, ठुकरा देते थे और सब कुछ छोड़ कर सच्चे संन्यासी बन जाते थे। और जो समाज

लोक-कल्याण के लिए इस प्रकार सब कुछ ठुकरा कर अकिञ्चन बन कर रहने वालों का सत्कार करने में कोई कमी नहीं रखता, उसकी नैतिक भावना निःसंन्देह बहुत बढ़ी चढ़ी समझनी चाहिए। ये तपस्वी लोग लोक-सेवा के विरुद्ध नहीं थे; वे जन समाज को धर्म की शिक्षा देने के लिए संसार का त्याग करते थे। सच्चाई को प्राप्त कर लेने पर वे उसे अपने भाइयों को देने के लिए उत्सुक रहते थे। यह बात युआन-च्वांग की दृष्टि से नहीं छूटी; उसने लिखा है—

'परिश्रम की परवाह न करके वे ज्ञान विज्ञान का उपदेश करते हैं, ज्ञान की धुन में उत्तम शील का भरोसा रखते हुए वे १,००० लि को भी कोई लम्बी यात्रा नहीं गिनते' (१ लि= लगभग ४ मील) [Watters, i. 161]

एक स्थान से दूसरे स्थान में विचरने वाले इन तपस्वी विद्वानों द्वारा प्राचीन भारत में लोक-शिक्षा का एक बहुत ही उत्तम साधन प्रचलित था जिस पर राज्य का पैसा भी खर्च नहीं होता था। राज्य की ओर से स्थापित शिक्षा-विभाग का प्रयत्न कभी इतना सफल न हो सकता था।

ब्राह्मण धर्म के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों और मतों के साथ ही बौद्ध धर्म और विशेष करके महायान बौद्ध धर्म की शाखाएं भी पनप रही थीं। युआन च्वाँग के समय में महा-यान धर्म हीनयान की अपेक्षा कहीं अधिक फैल चुका था। इस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रत्येक केन्द्र में, जहां कहीं वह गया, उसने महायान और हीनयान भिक्षुओं को कभी एक ही और कभी भिन्न भिन्न विहारों में रहते हुए और साथ ही अनेक देव मन्दिरों को और ब्राह्मण सम्प्रदायों और ब्राह्मण भक्तों को 'हिल-मिलकर रहते हुए' देखा।

हर्ष और युआन च्वाँग के समय, यद्यपि बौद्ध धर्म घटती पर था, तब भी महायान और हीनयान इन दो मुख्य

विभागों के अतिरिक्त उसके अठारह भिन्न भिन्न सम्प्रदाय फैले हुए थे। 'साम्प्रदायिक सिद्धान्त उन्हें पृथक् रखते हैं। और वादविवाद का बड़ा ज़ोर रहता है; विशेष सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रतिकूल वाद करते हुए भी वे अनेक मार्गों से एक ही अन्त पर पहुँचते हैं। अठारहों शाखाओं में से प्रत्येक के अनुयायी अपने सिद्धान्त की उच्चता का दावा करते हैं [Watters, *i*. 162] इन में से कुछ शाखाओं ने अपने विशेष सिद्धान्तों और आचारों से सम्बन्ध रखनेवाले विशेष साहित्य का निर्माण किया और ऐसे विहारों की स्थापना की जहाँ इस साहित्य का विशेष प्रकार से अनुशीलन होता था। चीनी यात्री ने भारतवर्ष में भिन्न भिन्न शाखाओं के लगभग ५,००० विहारों को देखा जो विद्यापीठों का काम देते थे और जहाँ बौद्ध भिक्षु आकर रहते थे। इन कुल भिक्षुओं की संख्या भिन्न भिन्न केन्द्रों में भिन्न भिन्न विहारों और सम्प्रदायों के लिए युआन च्वाँग के दिए हुए मीज़ानों के आधार पर लङ्का को मिलाकर सारे भारतवर्ष में २,१२,१३० के लगभग निकलती है।

हर्ष-काल में भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म के भिन्न भिन्न केन्द्रों और शाखाओं में भिक्षुओं का प्रचार दिखलाने के लिये युआन च्वाँग के कथनों से निम्नलिखित तालिका तय्यार की गई है–

१ स्थविर

गया में (लङ्का के राजा विहार में)		...	१,०००
समतट में	...	...	२,०००
कलिङ्ग में	...	...	५००
द्रविड में	...	...	१०,०००
लङ्का में	...	...	२०,०००
भड़ोच में	...	...	३००

सूरत में	...	...	३,०००
		कुल	३६,८००

२—सम्मितीय—

अहिच्छत्र में	...	...	१,०००
संकाश्य ,,	...	...	१,०००
हयमुख ,,	...	...	१,०००
विशोक ,,	...	...	३,०००
कपिलवस्तु ,,	...	...	३०
बनारस ,,	...	...	३,०००
सारनाथ ,,	...	...	१,५००
मुंगेर ,,	...	...	४,०००
कर्णसुवर्ण ,,	...	...	२,०००
मालव ,,	...	...	२०,०००
वलभी ,,	...	...	६,०००
उत्तरी सिंध में	...	...	१०,०००
कराची ,,	...	...	५,०००
पिताशिला ,,	...	...	३,०००
अवन्द (?) ,,	...	...	२,०००
आनन्दपुर ,,	...	...	१,०००
		कुल	६३,५३०

३ सर्वास्तिवादी

गाज़ में	...	...	२,०००
तमसावन विहार में	...	...	३००
मतिपुर ,,	...	...	८००
कपोत विहार ,,	...	...	२००
नवदेवकुल ,,	...	...	५००

गुर्जर	,,	...	...	१००
मुंगेर	,,	...	...	२,०००
			कुल	४,१००

४ लोकोत्तरवादी

वामियाँ	में	...	(कई हज़ार)

५ हीनयान (अवान्तर सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं किया गया है)।

शाकल	में	...	...	१००
गन्धार	,,	...	...	५०
स्थानेश्वर	,,	...	...	७००
श्रुघ्न	,,	...	...	१,०००
गोविशान	,,	...	...	१००
कोसाम्बि	,,	...	...	३००
ग़ाज़िपुर	,,	...	...	१,०००
मगध	,,	...	...	५०
चम्पा	,,	...	...	२००
			कुल	३,५००

६ महायान

कपिशा	में	...	...	६,०००
उद्यान	,,	...	...	१८,०००
तक्षशिला	,,	...	...	३००
कु-लु-तो	,,	(ब्यास नदी के ऊपरी प्रदेश में)		१,०००
पि-लो-शंन्न	,,	...	...	३००
मगध	,,	...	...	१०,०००
पुण्यवर्धन	,,	...	...	७००
उड़ीसा	,,	...	...	'हज़ारों'

दक्षिणी कोशल में		...	...	१०,०००
ति-लो-शि-क विहार में		...	...	१,०००
धनकटक	में	...	...	१,०००
फ-ल-न	,,	(गोमल घाटी)	...	३००
			कुल	४८, ६००

७ हीनयान और महायान दोनों का अध्ययन करने वाले भिक्षु

मथुरा	में	...	...	२,०००
जालन्धर	,,	...	...	२,०००
कन्याकुब्ज	,,	...	...	१०,०००
अयोध्या	,,	...	...	३,०००
वृजि	,,	...	...	१,०००
पुण्यवर्धन	,,	...	...	३,०००
कङ्कन	,,	...	...	१०,०००
महाराष्ट्र	,,	...	...	५,०००
कच्छ	,,	...	...	१,०००
उज्जैनी	,,	...	...	३००
पर्वत	,,	...	...	१,०००
मेकरान	,,	...	...	६,०००
			कुल	४६,३००

८ भिक्षु जिनके सम्प्रदायों के नाम नहीं दिये गये हैं

काश्मीर	में	...	...	५,०००
राजमहल	,,	...	...	३००
ताम्रलिप्ति	,,	...	...	१,०००
अन्ध्र	,,	...	...	३,०००
			कुल	९,३००

ऊपर दीं हुई संख्याओं के मीज़ान

हीनयान—

स्थविर	...	...	३६,८००	
सम्मतीय	...	...	६३,५३०	
सर्वास्तिवादी	...	...	४,१००	
बग़ैर नाम के	...	...	३,५००	
				१,०७,६३०
महायान	...	...		४८,६००
हीनयान और महायान दोनों	...			४६,३००
भिक्षु जिनके सम्प्रदायों के नाम नहीं दिये गये हैं—				६,३००
			कुल मीज़ान	२,१२,१३०[1]

यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि इनके अतिरिक्त अनेकों अन्य भिक्षु और विहार थे जिनकी युआन च्वाँग ने गिनती नहीं की किन्तु 'थोड़े से' 'दसों', 'कई हज़ार', 'अनगिनित' इत्यादि अनिश्चित शब्दों में हिसाब लगाया है। युआन च्वाँग ने भिक्षुओं की जो गणना की है उसके बिल्कुल सही न होने पर भी, इस बात को मानना पड़ेगा कि भारतवर्ष में बौद्ध और बौद्धेतर दोनों तरह के लाखों संन्यासी और भिक्षु थे, जिसे देश की धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति का विश्वसनीय प्रमाण मानना चाहिये।

बौद्ध विद्यापीठों में से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विद्यालय का जैसा युआन च्वाँग ने उसे देखा था वर्णन रोचक होगा। काश्मीर बौद्ध धर्म का एक महान् केन्द्र था, जहाँ

१ ऊपर की गणना राइस डेविडज् की गणना के आधार पर दी गई है [*JRAS*, 1391, pp. 418-20] किन्तु बहुत सी संख्याएं वाटर्ज़ से ली गई हैं जो उससे भिन्न हैं।

के राजा ने चीनी यात्री की शुश्रूषा के लिये भदन्त च'एंग और उसके शिष्यों को नियुक्त कर दिया था, इसके अतिरिक्त राजकीय पुस्तकालय से वह जिन पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियां चाहता था उनकी नकल करने के लिये बीस लेखक भी दिये थे। इस प्रकार युआन च्वाँग ने सूत्र और शास्त्रों के अध्ययन में वहां दो वर्ष बिताये। जालन्धर देश के नगरधन विहार में उसने चन्द्रवर्मा नामी एक बड़े विद्वान् के चरणों में चार महीने तक अध्ययन किया। स्रुघ्न देश के एक विहार में जयगुप्त नामक विद्वान् से शिक्षा ग्रहण करने के लिए वह जाड़ भर और चैत्र तक रहा। स्रुघ्न के विहार के भिक्षु अपने पाण्डित्य के लिए इतने विख्यात थे कि दूसरे देशों के नामी भिक्षु अपनी शंकाओं का समाधान कराने के लिए उनके पास आते थे। मतिपुर के एक विहार में उसने मित्रसेन नामी एक नव्वे वर्ष के वृद्ध विद्वान् से जो गुणप्रभ का शिष्य था भेंट की और उससे गुणप्रभ के एक ग्रन्थ को वह कई महीने तक पढ़ता रहा। कन्याकुब्ज में भद्र विहार नामक एक विख्यात विद्यालय था जहाँ युआन च्वाँग आचार्य वीर्यसेन के समीप तीन महीने तक अध्ययन करता रहा। वैशालि देश के श्वेतपुर विहार में युआन च्वाँग को महायान धर्म का एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ। नालन्दा के निकट ति-लो-शि-क विहार उन दिनों 'पहुँचे हुए विद्वानों का केन्द्र था जो सब देशों से आकर वहां इकट्ठा होते थे'। गया का महाबोधि विहार अपने एक सहस्र उपासकों के उत्तम विनय सम्बन्धी सदाचार के लिए प्रसिद्ध था। पुण्यवर्धन का एक विहार इतना विख्यात था कि वहां 'बृहत्तर भारत' से अनेकों विद्वान् छात्र खिंचे चले आते थे। मुंगेर में आचार्य तथागतगुप्त और क्षान्तिसिंह से शिक्षा ग्रहण करते हुए वह एक वर्ष तक टिका। कर्णसुवर्ण के रक्तामृत विहार में नामी भिक्षु रहते थे। इस

प्रकार ये सब विहार उन दिनों बौद्ध ज्ञान और संस्कृति के विद्यापीठों के रूप में देश भर में प्रसिद्ध थे।

पर उस युग में विद्या का सबसे अधिक प्रसिद्ध केन्द्र नालन्दा का विश्वविद्यालय था, जिस में १०,००० विद्यार्थी पढ़ते थे। 'विदेशों के' 'विद्यार्थी भी अपनी शंकाओं का समाधान करने और नाम कमाने के लिए वहाँ आते थे [Watters ii. 165]। इनमें से कुछ मंगोलिया तक से आते थे [I-tsing, ed. Takakusu, p. 26]। इस विश्वविद्यालय के इतिहास का विशेष विवरण देना आवश्यक है, पर यहाँ केवल ऐसी बातों का वर्णन ही ठीक होगा जिनका सम्बन्ध हर्ष के समय से है। १०,००० शिष्यों के रहने का प्रबन्ध छःमंज़िले विहारों में किया गया था, जिन्हें छः राजाओं ने दान में दिया था। उनके नाम ये हैं–शक्रादित्य, बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य, वज्र, और उत्तरी भारत का एक राजा। हर्ष ने इस विश्वविद्यालय को लगभग एक सौ फुट ऊँचा एक तांबे का चैत्य या विहार दान किया था [*Life*, p. 159; Watters, ii. 171]। विश्वविद्यालय अपने शिष्यों के लिए केवल निःशुल्क शिक्षा का ही नहीं किन्तु मुफ़्त भोजन, वसन, वासस्थान और औषधियों का भी इंतिज़ाम करता था। ख़र्च का काम लगी हुई जागीरों से चलता था। युआन च्वाँग ने लिखा है—'देश का राजा विहार के पोषणार्थ १०० गाँवों की आय देता है', किन्तु उसने इस उदार राजा के नाम का उल्लेख नहीं किया। नालन्दा-विश्वविद्यालय शास्त्रार्थ-मन्दिर की तरह था उसमें प्रारम्भिक शिक्षा के लिए प्रबन्ध न था, केवल गम्भीर ज्ञान और उच्च विद्यार्थियों के लिए वहां प्रबन्ध था। वहाँ ज्ञानार्जन पारस्परिक विचारों की टक्कर और ऊहापोह से होता था जिसके लिए इने-गिने छात्र ही योग्य होते थे। युआन च्वाँग का कहना है कि दस में से

केवल दो या तीन ही छात्र विश्वविद्यालय और उसके 'शास्त्रार्थ मन्दिरों' में प्रवेश पाने में सफल होते थे; 'अधिकांश विद्यार्थी कठिन प्रश्नों से (जिनका उत्तर प्रवेश से पहले देना पड़ता था) घबड़ाकर लौट जाते थे।' इस कठनाई के होते भी जो उच्च विद्यार्थी विश्वविद्यालय में थे उनकी संख्या वह १०,००० बताता है [तत्रैव 165] । इनमें १,५१० अध्यापक थे। नियत क्रम से इतने अध्यापकों के बीच विश्वविद्यालय में प्रतिदिन भिन्न विषयों पर दिये जाने वाले व्याख्यानों का औसत सौ पड़ता था।

नालन्दा के अध्यापक और विद्यार्थी भिन्न भिन्न संप्रदायों और दर्शनों के व्याख्याता और अनुयायी थे। वे नित्य आपस में गरमागरम बहस करते रहते थे जिस से विश्वविद्यालय का ज्ञान सम्बन्धी वातावरण सजीव रहता था। युआन च्वाँग ने ऐसे शास्त्र-विचार की कुछ वास्तविक घटनाओं को लेख-बद्ध किया है। एक बार जब शीलभद्र ने योगशास्त्र के कुछ अङ्गों की व्याख्या करने के लिये युआन च्वाँग से कहा तब सिंहरश्मि नाम का विद्वान् उससे बिलकुल विपरीत सिद्धान्तों पर उसके सामने व्याख्यान देने लगा; युआन च्वाँग ने अपने प्रश्नों से उसे चुप कर दिया। इस पर वह लज्जित होकर नालन्दा से गया के बोधि विहार को चला गया और वहां से अपने सहपाठी पूर्वी भारत के चन्द्रसिंह विद्वान् को युआन च्वाँग के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये नालन्दा लिवा लाया, पर युआन च्वाँग ने उसे भी शीघ्र ही हरा दिया। ऐसा आता है कि एक लोकायत दार्शनिक ने नालन्दा के भिक्षुओं को ललकारा और 'चालीस प्रश्न लिख कर इस विज्ञप्ति के साथ विहार के द्वार पर लटका दिये कि—'यदि विहार का कोई विद्वान् इन सिद्धांतों का खण्डन कर देगा तो मैं उसकी जीत के लिये उसे अपना सीस अर्पण करूंगा'। युआन च्वाँग ने इस चुनौती

को स्वीकार करके विज्ञापन को उतरवा लिया. और विश्व-विद्यालय के प्रधान (Chancellor) और सब विद्यार्थियों के सामने पारिडत्यपूर्ण शास्त्रार्थ में अपने विपक्षी को हरा दिया, और उसे जीवन-दान देकर अपना शिष्य बना लिया [*Life*, pp. 157–64]।

उस काल के सबसे अधिक प्रसिद्ध विद्वान् और आचार्य ये थे–'धर्मपाल (विहार के प्रधान के रूप में शीलभद्र का पूर्वाधिकारी), चन्द्रपाल (जिसने बुद्ध के उपदेशों को सौर-भान्वित बनाया), समकालीन विद्वानों में उत्कृष्ट कीर्तिवाले गुणमति और स्थिरमति, प्रसन्न तार्किक प्रभामित्र, वाग्मी जिनमित्र, आदर्श-चरित्र-और-निर्मल-बुद्धि ज्ञानचन्द्र, और सब विद्वानों में शिरोमणि शीलभद्र। इनके अतिरिक्त 'कई सहस्र अत्यन्त विशिष्ट भिक्षु थे जो सब बहुत योग्य और विद्वान् थे जिनमें कई सौ तो बहुत ही प्रतिष्ठित और यशस्वी थे'। नालन्दा-विहार के सदस्यों का जीवन बहुत ही जागरूक था,–'सीखते हुए और विचार करते हुए उन्हें दिन कुछ भी मालूम न होता था; रात दिन वे एक दूसरे को उपदेश करते थे और सब छोटे बड़े सिद्धि प्राप्त करने में एक दूसरे की सहायता करते थे।'

नालन्दा में अध्ययन के विषय केवल बौद्ध धर्म तक ही परिमित न थे। विश्वविद्यालय में महायान का विशेष अध्ययन होता था; साथ ही बौद्ध धर्म के अन्य अठारह सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों का तथा वेद, अथर्ववेद, हेतुविद्या (तर्कशास्त्र), शब्दविद्या (व्याकरण और भाषा-विज्ञान), चिकित्साशास्त्र (वैद्यक), सांख्य, न्याय, योगशास्त्र, आदि ब्राह्मण-धर्म सम्बन्धी साहित्य का भी अनुशीलन होता था। स्वयं युआन च्वाँग ने विश्वविद्यालय के प्रधान शीलभद्र से योगशास्त्र का अध्ययन किया 'जो इस विषय के

सबसे अग्रणी पंडित थे,' और साथ ही न्याय, हेतुविद्या और शब्दविद्या को भी पढ़ा जिनमें भाषाविज्ञान, धर्मशास्त्र, दर्शन ज्योतिष और पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा भी प्राप्त की। वह नालन्दा में पाँच वर्ष तक विद्यार्थी बन कर रहा। इस अवधि में उसने 'बौद्धों के सब ग्रन्थ और साथ ही ब्राह्मणों के धर्मग्रन्थों' का भी अध्ययन समाप्त किया [*Life*, pp. 112 121. 125]। इस प्रकार नालन्दा के लोग विद्या की प्राप्ति में किसी तरह की सीमा को नहीं मानते थे और सब स्थानों, सम्प्रदायों और धर्मों से ज्ञान का स्वागत करते थे। नालन्दा अपने सर्वधर्म विषयक शास्त्रों की दृष्टि से एक वास्तविक विश्वविद्यालय था, किसी सम्प्रदाय या जातिविशेष का विद्यालय नहीं। उसके गुरुकुलीय जीवन की स्वतन्त्रता और शास्त्रों की विविधता की जिनका वर्णन युआन च्वाँग ने किया है, तुलना करने वाला एक और विद्यापीठ, दिवाकर मित्र मुनि का आश्रम था जिसका वर्णन बाण ने किया है [हर्ष० २३६-२३७]। विन्ध्यकान्तार के गहन वनों में स्थित उस एकान्त आश्रम में तत्कालीन ज्ञान और संस्कृति अपने पूर्ण रूप में विद्यमान थी। मत और आचार में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नानादेशीय विद्यार्थी और सब सम्प्रदायों और सिद्धान्तों के अनुयायी सत्य की जिज्ञासा के लिए बन्धुभाव से वहाँ बसते थे। यही विश्वविद्यालय का सबसे ऊँचा उद्देश्य है। 'श्रवण, मनन, प्रत्युच्चरण, शंका-समाधान, व्युत्पत्ति-प्रदर्शन, वादविवाद, अभ्यास और व्याख्या ये ही उनके काम थे। वस्तुतः सच्चाई को यहाँ प्रत्येक दृष्टि-कोण से देखने की चेष्टा की जाती थी। इस आश्रम में आर्हत' (दिगम्बर) और श्वेतपट (श्वेताम्बर) नामक जैन; पाण्डुरि-भिक्षु (नंगे तपस्वी), मस्करी (परिव्राजक), वर्णी (ब्रह्मचारी), भागवत और पाञ्चरात्रिक (वैष्णव तपस्वी), शैव और केशलुञ्चक

जैसे ब्राह्मण-यतिं; लोकायतिक (चार्वाक) जैसे नास्तिक; कापिल, काणाद, औपनिषद (वेदान्ती), और ऐश्वरकारणिक (नैयायिक) जैसे दार्शनिक; धर्मशास्त्री, शाब्दिक (शब्दशास्त्र) और पुराणों के पारंगत; कर्मकाण्ड के धुरन्धर (साप्ततन्तव); यही नहीं, भौतिक विज्ञानों के पण्डित, धातु विद्या में निपुण कारन्धमी, भी विद्यमान थे। बौद्ध शिक्षा और संस्कृति का भी वहाँ कम प्रचार न था: त्रिशरण (बुद्ध-धर्म-संघ) के अनुयायी चैत्यकर्म में व्यापृत रहते थे; ऐसे विद्यार्थी भी वहाँ थे जो बौद्ध क़ानून (शाक्यशासन) में कुशल थे; वसुबन्धु के कोश नामक ग्रन्थ पर (जिसमें बुद्धसिद्धान्त वर्णित था) व्याख्यान भी हो जाया करते थे; कुछ लोग ऐसे भी थे जो 'बोधिसत्त्व जातकों' का विशेष अध्ययन और जप करते रहते थे [हर्ष० २३७]।

शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं के इन विवरणों में हमें उस काल के साहित्य और ज्ञान के विस्तार की एक झलक दृष्टि-गोचर होती है। 'ब्राह्मण वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करते थे,' जिनमें आयुर्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद शामिल थे, जैसा कि युआन च्वाँग ने वर्णन किया है (Watters i. 159)। इत्सिंग जो युआन च्वाँग के कुछ काल बाद ही भारत में आया (सन् ६७२-८८ ई०), लिखता है कि 'चारों वेद, जिनमें लगभग १,००,००० छन्द हैं, मौखिक परम्परा से सुरक्षित रक्खे जाते हैं, उन्हें काग़ज़ या पत्रों पर नहीं लिखा जाता। हर पीढ़ी में कुछ ऐसे मेधावी ब्राह्मण होते हैं जो इन १,००,००० छन्दों को सुना सकते हैं' [Takakusu's tr., p. 182]। इत्सिंग के अनुसार, पहली पाठ्य पुस्तक सिद्धिरस्तु कहलाती थी जिसमें वर्णमाला के ४६ अक्षर और दस हज़ार अक्षरों के बराबर तीन सौ श्लोक थे। इसके उपरान्त विद्यार्थी को व्याकरण के नियमों का बोध कराया

जाता था, जिनमें ये अंश सम्मिलित थे—(अ) १,००० श्लोकों के बराबर पाणिनि के सूत्र, (आ) धातु और तीनों खिल, (इ) १८,००० श्लोकों के बराबर पाणिनि के व्याकरण पर काशिकावृत्ति नाम की टीका, जिसका योग्य और प्रतिभा-सम्पन्न रचयिता जयादित्य हर्ष के समय विद्यमान था; (ई) गद्य और पद्य की रचना। व्याकरण और पदयोजना के इस आरम्भिक ज्ञान के बाद छात्र लोग विशेष विद्याओं का अध्ययन आरम्भ करते थे। विद्याओं की संख्या, युआन च्वाँग और इत्सिंग दोनों के अनुसार, पांच थी, (१) शब्द-विद्या (व्याकरण और कोश), (२) शिल्पस्थानविद्या (कलाओं और शिल्पों का विज्ञान), (३) चिकित्साविद्या (वैद्यक), (४) हेतुविद्या (तर्कशास्त्र), और (५) अध्यात्मविद्या। इन विषयों में जो पाठ्य पुस्तकें निर्धारित की गई थीं इत्सिंग ने उनमें से कुछ के नामों का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए हेतुविद्या [तर्कशास्त्र] की पाठ्य पुस्तक 'न्याय द्वार तारक शास्त्र' था जिसे नागार्जुन ने रचा था। निबन्ध-रचना और आदर्श साहित्य के नमूनों में जातकमाला और नागार्जुनकृत सुहृल्लेख का वर्णन किया गया है। सुहृल्लेख एक पद्यात्मक प्रशस्ति थी जिसे नागार्जुन ने अपने आश्रयदाता राजा जेतक शातवाहन (Takakusu, p. 159) को सम्बोधित करके लिखा था और जिसका इत्सिंग ने उल्था किया था। बुद्धस्तोत्र नाम की १५० पद्यों की एक और पुस्तक थी, इसका भी इत्सिंग ने जब वह नालन्दा में अध्ययन कर रहा था, उल्था किया था। इन पांच विषयों के सामान्य अध्ययन के बाद किसी एक विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए ऊंचे ग्रन्थों की पढ़ाई आरम्भ होती थी। युआन-च्वाँग के अनुसार बौद्ध विद्यार्थी उस धार्मिक साहित्य की

किसी एक शाखा के अध्ययन में विशेषज्ञता प्राप्त करता था जिसका सम्बन्ध स्वयं उसके सम्प्रदाय से होता था। विश्रुत बौद्ध विद्वान् गुणभद्र के विषय में कहा गया है कि वह इन पांच विषयों के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, वैद्यक और प्रेत-विद्या भी जानता था [Watters, i. 158]। विशेष विद्याओं में एक व्याकरण था जिसके लिए इत्सिंग के कथनानुसार उन दिनों निम्न-लिखित पाठ्य-ग्रन्थ प्रचलित थे—(१) २४,००० श्लोकों के बराबर चूर्णि या पतञ्जलि का महाभाष्य, जिसके 'सीखने में उन्नत विद्यार्थियों को तीन वर्ष लगते थे'; (२) भर्तृहरि-शास्त्र, २५,००० श्लोकों के बराबर महाभाष्य पर एक वृत्ति जिसे भर्तृहरि ने लिखा था, जो 'भारतवर्ष के पांचों भागों में सर्वत्र विख्यात' था और जो सन् ६५१ में परलोक सिधारा [Takakusu p. 180]; (३) वाक्यपदीय—यह भी भर्तृहरि की रचना है जिसमें आगम प्रमाण के अनुकूल अनुमान प्रमाण और हेतुओं का विवेचन किया गया है (तत्रैव); और (४) पेइ-न (सम्भवतः संस्कृत बेड या वेड), ३,००० श्लोकों के बराबर एक व्याकरण ग्रन्थ, जिसे भर्तृहरि ने रचा था। इस पर १४,००० श्लोकों के बराबर की एक टीका थी जो भर्तृहरि के समकालीन धर्मपाल की रची हुई कही जाती थी। बौद्ध साहित्य के धर्म-ग्रन्थों में, जिनमें विहारों के भिक्षु विशेषज्ञता प्राप्त करते थे, इत्सिंग ने निम्नलिखित का उल्लेख किया है,—त्रिपिटक [तत्रैव p. 120], विनय, सूत्र और शास्त्र (तत्रैव, p. 181), १५० और ४०० श्लोकों के दो सूक्त जो मातृचेत के बनाये हुये थे और सारे भारतवर्ष के बौद्ध भिक्षुओं को सिखाये जाते थे (p. 157), अश्वघोष का बुद्धचरित-काव्य 'जो भारतवर्ष के

पांच खंडों और दक्षिण महासागर के द्वीपों में सर्वत्र बहुत पढ़ा या गाया जाता है' (p. 166)। योग में योगाचार्य-शास्त्र और असंग के आठ शास्त्रों का अध्ययन होता था; तर्कशास्त्र के अन्तर्गत जिन के आठ शास्त्र सम्मिलित थे; अभिधर्म में छः पाद या निबन्ध और आगमों में चार निकायों का निर्देश किया गया है।

यह विवरण है जो चीनी यात्रियों ने उस काल के भारतीय साहित्य के विषय में दिया है। इसमें बहुत से ऐसे नाम मिलते हैं जिनका सम्बन्ध विशेषतया हर्ष के समय के संस्कृत साहित्य के इतिहास से है, अर्थात् भर्तृहरि; काशिका के संयुक्त रचयिता जयादित्य और वामन, और धर्मपाल जिस ने बेडावृत्ति का श्लोक-भाग लिखा और जो नालन्दा कालेज के प्रधान के पद पर शीलभद्र का पूर्वाधिकारी था; तार्किक धर्मकीर्ति [जिसका निर्देश वासवदत्ता पृ० २३५ और कौवेल के सर्वदर्शनसंग्रह में (पृ० २४) किया गया है]; राहुलमित्र ताम्रलिप्ति में पूर्वी भारत का प्रधान भिक्षु और रत्नकूट सूत्र का रचयिता; चन्द्र जिसने वेस्सन्तर जातक पर एक नाटक की रचना की; जिनप्रभ, ज्ञानचन्द्र, रत्नसिंह जो इत्सिग के समय नालन्दा में अध्यापक थे, इन के अतिरिक्त नालन्दा के और अन्य स्थानों के उपरिनिर्दिष्ट बौद्ध आचार्य और विद्वान् जिनका युआन च्वाँग ने उल्लेख किया है। निःसंदेह उस काल का एक प्रधान कृतविद्य पुरुष स्वयं हर्ष का राजकवि बाणभट्ट था। स्वयं बाण ने उस समय के विख्यात साहित्य कर्णधारों में भाषाकवि ईशान, वर्णनाप्रधान कवि वेणीभारत और प्राकृतकवि वायुविकार का उल्लेख किया है। किरातार्जुनीय का रचयिता महाकवि भारवि भी इस युग में विद्यमान था, क्योंकि वह सन् ६३४ के ऐहोल शिला-

लेख में लब्ध-प्रतिष्ठ कवि के रूप में सामने आता है। बाण के द्वारा उसकी किसी प्रकार की चर्चा का अभाव यह प्रगट करता है कि वह बाण के समय से बहुत पहले नहीं था [Keith's *Classical Sanskrit Literature*, p. 51]। कवि कुमारदास जिसने जानकीहरण महाकाव्य लिखा है, इसी काल में हुआ माना गया है, क्योंकि वह लगभग सन् ६५० की काशिकावृत्ति से परिचित मालूम होता है। शिशुपालवध का रचयिता प्रसिद्ध कवि माघ भी इसी ज़माने में था [तत्रैव, p. 55]। आख्यायिकाकार सुबन्धु बाण से थोड़ा पहले हुआ था; बाण हर्षचरित की भूमिका में उसकी वासवदत्ता का निर्देश करता है। बाण की कादम्बरी को, जिसे वह अधूरी छोड़ गया था, उसके पुत्र भूषण भट्ट ने समाप्त किया। यहाँ पर एक और राजसी कवि का उल्लेख कर देना उचित होगा, जो 'पूरे समय तक हर्ष का समकालीन' था; यह काञ्ची का पल्लव राजा महेन्द्रविक्रम था जिसने मत्तविलास नाम का प्रहसन लिखा और सन् ई० की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में राज्य किया। हर्ष के समकालीन और प्रतिस्पर्धी दक्षिणापथ-सम्राट् पुलकेशी द्वितीय का राज-कवि रविकीर्ति भी उल्लेखनीय है, जिसने सन् ६३४ के एहोल शिलालेख में काव्य-रूप में अपने आश्रयदाता के विक्रमों का कीर्तन किया है; उसमें रविकीर्ति ने अपनी तुलना कालिदास और भारवि से की है और वह अलंकार शास्त्र के नियमों में निष्णात, कालिदास के रघुवंश से परिचित और अपनी उत्प्रेक्षाओं में अद्वितीय प्रतीत होता है। अन्त में इस काल के कृतविद्य पुरुषों में सूर्यशतक का (जो बड़ी गुण-गरिमा युक्त रचना है) रचयिता, बाण का ससुर, मयूरकवि,

और मातङ्ग दिवाकर भी (जिसके कुछ काव्य सुरक्षित हैं) उल्लेखनीय हैं [Keith's *Classical Sanskrit Literature*, p. 120]।

विनयाचार और ज्ञान में समुन्नत इन विहारों और आश्रमों में केन्द्रीभूत धर्म और विद्या के साथ साथ हमें साधारण जनता के धर्म पर भी विचार करना चाहिए। बौद्ध और ब्राह्मण, दोनों धर्मों के अनुयायी देवालयों में प्रतिष्ठापित मूर्तियों की पूजा में संलग्न थे। उस समय हिन्दू धर्म के सबसे अधिक लोकप्रिय देवता विष्णु, शिव और सूर्य थे। कन्याकुब्ज में, जो उस समय हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों का केन्द्र था, युआन च्वाँग ने इन तीनों देवताओं के मन्दिर देखे। बनारस जैसा आजकल है वैसा ही उस समय भी शैव उपासना का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान था। युआन च्वाँग ने वहाँ हिन्दू देवताओं के १०० से भी अधिक मन्दिर देखे जिनमें अधिकांश उपासक शैव थे, 'कोई अपने बाल कटाये रहते थे, कोई नंगे धड़ंगे अथवा भभूत लगाये फिरते थे'। एक मन्दिर में उसने देव की 'लगभग १०० फुट ऊँची' मूर्त्ति (सम्भवतः शिवलिङ्ग) देखी [Watters, ii. 47]। कितने ही मंदिर प्रमुख बौद्ध स्थानों में भी विद्यमान थे। युआन च्वाँग ने कपिलवस्तु में एक ईश्वर-मन्दिर का होना लिखा है। शिव की स्त्री दुर्गा की पूजा भी लोकप्रिय थी। युआन च्वाँग ने पंजाब में शालातुर के निकट शिव-मन्दिर के पास भीमादेवी का एक मन्दिर देखा, जहाँ शरीर पर 'भस्म लगाये तीर्थिक' परिचर्या करते थे [i. 221]। यही नहीं, बोध-गया में भी भूमिदेवता के मन्दिर थे [ii. 124]। सूर्यका सबसे प्रसिद्ध मन्दिर मुलतान में था, जहाँ 'सोने की मूर्त्ति बहुमूल्य पदार्थों से अलंकृत थी'। 'भिन्न भिन्न देशों से आये हुए १,००० यात्री' नित्यप्रति उपासना करते थे जिनमें 'भजन

गानेवाली स्त्रियों की भी अच्छी तादाद थी। मन्दिर में सारी रात दीपक बलते रहते थे और लगातार धूप, पुष्प और नैवेद्य चढ़ता था। 'सारे भारतवर्ष के सेठ साहूकार और राजा महाराजा धार्मिक पूजा के रूप में बहुमूल्य वस्तुएं देते थे और उन्होंने धर्मशालाएं भी बनवाईं थीं जिनमें रोगियों और दीनों के लिए खाने पीने और दवा-दारू का प्रबन्ध था' [ii. 254]।

बौद्ध धर्म में भी समान रूप से मूर्तियों की पूजा प्रचलित थी, जिनका महायान सम्प्रदाय ने खूब दिल खोल कर प्रचार किया। सभी स्थानों में स्तूप थे जिनका सम्बन्ध या तो बुद्ध के जीवन-काल की घटनाओं से था अथवा जिनमें उसके और कभी उसके चेलों के भी अवशेष-चिह्न प्रतिष्ठापित किये गये थे। उदाहरण के लिये मथुरा में युआन च्वांग ने शारिपुत्र, मौद्गलायन, उपालि, आनन्द और राहुल की मूर्तियों की पूजा देखी [i. ३०२]। पांचवीं शताब्दी में फाहियान ने इसी स्थान में बौद्ध धर्म-ग्रन्थ, सूत्र, विनय और अभिधर्म के उपलक्ष में स्तूप बने हुए देखे। मगध के एक आदर्श विहार का वर्णन युआन च्वाँग ने इस प्रकार किया है,— 'बीच के मन्दिर में बुद्ध की ३० फीट ऊँची पत्थर की मूर्ति थी; बांई ओर के मन्दिर में तारा बोधिसत्त्व की और दाहिनी ओर वाले में अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की मूर्ति थी।'

इस प्रकार भारतवर्ष प्रधानतया मन्दिरों और मूर्ति-पूजा का देश था, जहाँ कि सिद्धान्तों और देवताओं के विषय में परस्पर मतभेद होते हुए भी मूर्तिपूजा के विषय में सभी सम्प्रदाय सहमत थे। भारतवर्ष के सभी प्रधान नगरों में युआन च्वाँग ने मन्दिरों, स्तूपों, विहारों अथवा अन्य स्मारकों के रूप में बौद्ध भवनों के साथ साथ ऐसे मन्दिरों की प्रचुरता देखी जिन्हें वह 'देव-मन्दिर' कहता है।

देश की नैतिक और धार्मिक उन्नति किसी हद तक तत्कालीन सम्राट् के चरित्र और आदर्श से सम्बद्ध थी। धर्म और विद्या के अनुशीलन और आश्रय-प्रदान में हर्ष अपनी प्रजा के लिए आदर्श था। पर यह ध्यान देने की बात है कि हर्ष ने अपना जीवन बौद्ध बन कर नहीं आरम्भ किया, और न बुद्ध के अनुयायी के रूप में साम्प्रदायिकता के संकीर्ण भाव से प्रेरित होकर उसने सब धर्मों को किनारे करके केवल बौद्ध धर्म को ही आश्रय दिया। इस प्रकार का व्यवहार एक ऐसे सम्राट् को शोभा नहीं दे सकता था जिसे भिन्न भिन्न धर्मों और जातियों को एक व्यवस्था के अन्दर रखना था। बाण के अनुसार उसका कुल-क्रमागत धर्म शैव सम्प्रदाय और तान्त्रिक उपासना से सम्बद्ध था। राजधानी के नागरिकों में चण्डी और महाकाल के उपासक भी थे। प्रभाकर वर्धन के जीवन-काल में राज-भवन के लोग 'कुलदेवताओं को पूजते, षडाहुति होम का अनुष्ठान करते, महामायूरी सूक्त (टीकाकार के अनुसार बौद्धविद्या) को पढ़ते, बलिविधान से भूतों को दूर रखने की योजना करते, व्यग्र विप्र वेदमन्त्रों को जपते, शैव लोग सहस्रों क्षीर-कलशों से विरूपाक्ष की मूर्ति को नहलाते' दिखाई देते हैं। लिखा है [हर्ष० १५४] कि 'शिव का मन्दिर रुद्र-एकादशी-मन्त्र के जप से गूँज रहा था।'[1] हर्ष के जन्म के बाद 'यज्वाओं के मन्दिरों में वैतान अग्नियां प्रज्वलित हुईं, और सफ़ेद वस्त्र पहने हुए ब्राह्मण, जिनके मुख में वेद विराजमान था (ब्रह्ममुखाः),[2] कुल पुरोहित के

१ जप्यमानरुद्रैकादशी शब्दायमान शिवगृहम् [बाण]।

२ उन दिनों के ब्राह्मण जिस धर्म का आचरण करते थे उसका कुछ बोध स्वयं बाण के तत्सम्बन्धी वर्णन से हो सकता है। जिस दिन उसने हर्ष को मिलने के लिए प्रस्थान किया, वह 'तड़के उठा,

साथ उपस्थित हुए' [हर्ष० १२६]। हमें यह भी बतलाया गया है कि विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान करने से पहले हर्ष ने 'परमभक्ति से भगवान् नीललोहित (रुद्रशिव) की अर्चा की'। इस प्रकार महल में वैदिक धर्म और संस्कृति की प्रबलता थी। रत्नावली और प्रियदर्शिका नाटिकाओं में, जो हर्ष की रचनाएं हैं, मङ्गलाचरण में ब्राह्मण धर्म के प्रमुख देवता जैसे गणों समेत शिव (जो शम्भु और हर भी कहे गये हैं), गौरी (या गिरिजा), गङ्गा, ब्रह्मा, कृष्ण, लक्ष्मी, और सरस्वती तथा साथ ही कुमार, दशमुख अथवा दक्ष जैसे गौण देवताओं का उल्लेख किया गया है। अपने बौद्ध नाटक, नागानन्द, में भी जिसका आरम्भ बुद्ध जिन की स्तुति से होता है, उसने ब्राह्मण देवता गौरी और गरुड़ को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त इन नाटकों में ऐसे भी स्थल हैं (देखो पांचवें अध्याय की टिप्पणी) जिन में ब्राह्मणों के द्वारा यज्ञों के किये जाने में राजा की रुचि दिखाई गई है, क्योंकि यज्ञ प्रजा की उन्नति और शासन की उत्तमता के द्योतक थे। हर्ष की सोनपत ताम्र-मुद्रा और उसके मधुवन पटल लेख में तो यहाँ तक वर्णन है कि उसका पिता आदित्य या सूर्य का परम भक्त और वर्णाश्रम धर्म का समर्थक था। बाण के अनुसार हर्ष और उसकी बहिन ने केवल अपनी दिग्विजयों की समाप्ति के बाद (उस

फिर स्नान किया, एक धोया हुआ धवल दुकूलवसन धारण किया, रुद्राक्ष की माला लेकर कई बार प्रास्थानिक सूक्तों और मन्त्रपदों का जप किया; शिव की प्रतिमा को दूध से स्नान करा कर उस पर धूप और पुष्प चढ़ा कर उसकी पूजा की; फिर घी की आहुति देकर अग्नि-होत्र किया, ब्राह्मणों को दक्षिणा दी और चलने से पहले गाय की प्रदक्षिणा की [हर्ष० २६]।

से पहिले नहीं) बौद्ध धर्म को ग्रहण किया, और यह बात सच्ची होगी, क्योंकि संग्रामों और रक्तपात का कार्यक्रम कदापि अहिंसा और शान्ति के पोषक बौद्ध धर्म जैसे धर्म के अनुरूप नहीं हो सकता। इस धर्मपरिवर्तन का कारण बाण ने बौद्ध तपस्वी दिवाकरमित्र का प्रभाव बतलाया है जो, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, विन्ध्य-कान्तार में अपने आश्रम में रहता था। किन्तु शिलालेख उसके परिवार में उसके बड़े भाई को पहला व्यक्ति मानते हैं जिसने बौद्धधर्म को ग्रहण किया और स्पष्ट शब्दों में उसे परमसौगत अर्थात् बुद्ध का परम भक्त और सुगत की भाँति जनता के कल्याण की वृद्धि करनेवाला वर्णन करते हैं। पर युआन च्वाँग वह व्यक्ति था जिसने प्रथम दर्शन के अवसर पर ही महायान के सिद्धान्तों की व्याख्या करके हीनयान की अपूर्णता दिखा कर हर्ष और उसकी बहिन की महायान बौद्ध धर्म में निश्चित रूप से श्रद्धाभक्ति उत्पन्न कराई। अपने इस नये धर्म के उत्साह से प्रेरित होकर उसने महायान पर युआन च्वाँग के विद्वत्तापूर्ण निबन्ध को प्रकाशित करने और उस काल के सारे दूसरे धर्मों पर महायान बौद्ध धर्म की प्रभुता स्थापित करने के लिए तुरन्त कनौज की विशाल सभा की आयोजना की।

यही एक मौक़ा था जब दुर्भाग्य से हर्ष ने कुछ हद तक हठधर्मिता और असहिष्णुता का परिचय दिया। यह बात उसकी नीति, उदार शासन और उस दान-शीलता के विरुद्ध थी जिसने उसे मनुष्यत्व की श्रेणी में इतना ऊंचा उठाया था। उस सभा में, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, सम्राट् ने कई प्रकार से ब्राह्मण धर्म को निन्दित किया,—बुद्ध के प्रति हिन्दू देवताओं का दासभाव प्रदर्शित करने के लिए वह और उसका सामन्त, आसाम का कुमारराज, प्रमुख ब्राह्मण देवता इन्द्र और ब्रह्मा के वेश में बुद्ध की प्रतिमा की परि-

चर्य्या कर रहे थे! यही नहीं, बौद्धधर्म में भी उसने अपनी इस घोषणा से कि युआन-च्वाँग के महायान सम्बन्धी व्याख्यान के विरुद्ध 'जो कोई मुँह खोलेगा उसकी जीभ काट दी जायेगी' विपक्षियों की वाक्-स्वतंत्रता का अपहरण करके हीनयान के प्रति अपना क्रोध और अमर्ष प्रगट किया, यद्यपि यह सच है कि उसके क्रोध को उभारने में हीनयान के अनुयायिओं का षड्यन्त्र कारण था। इस घोषणा से उस समारोह ने जो भारतीय धर्मों की महासभा के रूप में आरम्भ हुआ था एक निरी साम्प्रदायिक सभा का संकुचित रूप प्राप्त कर लिया। 'मिथ्या दृष्टि के रखने वाले किनारे हो गये और वहाँ से चलते बने, जिससे शास्त्रार्थ में भाग लेने के लिए कोई न रह गया' [*Life*, p. 180]। एक और विवरण के अनुसार [Beal i. 219] सभा में सम्राट् ने जो असहिष्णुता दिखाई उसके प्रत्युत्तर में उसके प्राण लेने के लिए एक षड्यन्त्र रचा गया जिसकी आयोजना ब्राह्मणों ने की थी। इस विद्रोह का कारण यह था कि राजा ने 'श्रमणों को दान देने में तो अपना कोश खाली कर डाला, पर जो दूर से वहाँ आये थे, उनकी किसी ने बात तक न पूछी'।

किन्तु बौद्ध धर्म के प्रति यह एकांगी आश्रयभाव अपवाद स्वरूप है। यह उसकी व्यापक नीति का अंग नहीं था। कन्नौज की सभा के बाद ही की जाने वाली प्रयाग की सभा में जो किसी विशेष धर्म के हित के लिए की जाने वाली सभा नहीं थी वरन् एक नियत संस्था थी जिसके अधिवेशन हर पांचवे साल होते थे, राजा के मुक्त-हस्त दान का हिस्सा देश के सभी वर्णों, जातियों, धर्मों और समाजों को मिला। सम्राट् के अद्भुत दानों में भाग लेने के लिए राजकीय निमन्त्रण 'दीनों, अनाथों और आतुरों के अतिरिक्त पांचों भारतों के सभी श्रमणों और ब्राह्मणों को' समान रूप से भेजा गया*।

[*Life*, p. 184], यद्यपि वितरण के पौर्वापर्य में बौद्धों को पहला स्थान दिया गया था। बुद्ध की मूर्त्ति के साथ साथ सूर्य और शिव इन देवताओं की मूर्तियों का सार्वजनिक रूप में सन्मान करके हर्ष ने इस अवसर पर अपनी साम्प्रदायिक भाव से स्वतन्त्र प्रकृति का एक और प्रमाण दिया। हर्ष के शिलालेखों में कट्टर ऋग्वेदी और सामवेदी ब्राह्मणों को, जो बाण के अनुसार उसे अपना सब कुछ न्योछावर करने वाला सेवक (द्विजोपकारणं सर्वस्वम्) समझते थे, गाँवों के दान दिये जाने का भी उल्लेख किया गया है।

बौद्ध धर्म के प्रति हर्ष का विशेष पक्षपात अन्य बातों से भी प्रगट है। उसने काश्मीर से बुद्ध के दांत को ज़बरदस्ती लाकर कन्नौज के पश्चिम में एक विहार में प्रतिष्ठापित किया [*Life*, p 181]। हम पहले लिख चुके हैं कि नालन्दा विहार को उसने १०० फुट ऊँचा पीतल का मन्दिर दान किया था। उड़ीसा में यात्रा करते हुए उसने हीनयान को प्रबल दशा में देखा, जिसे परास्त करने के लिए उसने दूरवर्ती नालन्दा से महायान के चार अच्छे प्रचारक बुलाये। उड़ीसा भेजने के लिए जो चार प्रचारक चुने गये थे वे सागरमति, प्रज्ञारश्मि, सिंहरश्मि और युआन च्वाँग थे [*Life*, p. 160]।

बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए उस के कुछ अन्य उपायों का भी चीनी यात्री ने वर्णन किया है। वर्ष में एक वार वह सब बौद्ध भिक्षुओं को इकट्ठा करता था और इक्कीस दिन तक नियमों के अनुसार उन्हें उनको आवश्यकताओं के सारे सामान देता था। शास्त्रार्थ और परीक्षा के लिए भी बौद्ध भिक्षुओं को इकट्ठा करने का उसे शौक था, जिसके बाद योग्य गुणी जनों को उपहार दिये जाते थे। सब से योग्य व्यक्ति को वह सिंहासन (सबसे ऊँचे स्थान) पर बिठाता,

और अपने गुरुओं की भाँति उसका आदर करके उससे आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करता था। दूसरों का भी, यदि वे शील और आचार के पालन में पूर्ण होते, वह नियमानुसार सत्कार करता था। किन्तु जो सदाचार अथवा भिक्षुओं के योग्य शील में प्रमाद दिखलाते थे उन्हें वह अपने सामने से और देश से भी निकाल बाहर करता था [Watters, i. 344]।

चीनी यात्री यह भी बतलाता है कि उसने गङ्गा के तट पर सहस्रों स्तूप बनवाये जिसमें 'प्रत्येक लगभग १०० फुट ऊँचा' था, और बौद्ध तीर्थों में विहारों का निर्माण कराया। उसने चैत्यों को भी सजाया और विहारों के सभा-भवनों को अलंकृत किया' [तत्रैव]। पर पुरातत्त्वविषयक खोज में हर्ष के बहुत ही कम स्मारक प्रगट हुए हैं।

अन्त में यह कह देना उचित होगा कि उसने अपने राज्य में सर्वत्र मांसाहार के निषेध के लिए और कड़ी सजाओं का भय दिखा कर जीवहिंसा की रोकथाम के लिए जो क़ानून बनाये थे उनका कारण उसकी बौद्ध-विषयक श्रद्धा थी।[1]

---

१ हर्ष के बौद्ध आदर्श उसके नागानन्द नाटक में अच्छी तरह व्यक्त हुए हैं। जब रण में शत्रु पर आसानी से विजय निश्चय थी तो चरित्रनायक राजा जीमूतवाहन दृढ़तापूर्वक अहिंसा और आत्मत्याग के बौद्ध सिद्धान्त का समर्थन करता है— 'अनुकम्पा से प्रेरित होकर, बिना कहे ही, मैं दूसरे के लिए सहर्ष अपने प्राण तक दे सकता हूं; तो फिर केवल राज्य की प्राप्ति के लिए निष्ठुरता से मनुष्यों की हत्या करने को कैसे सहमत होऊँ ? [३–१७] इसी स्वर में उसने निर्दयी गरुड़ को अपना अन्तिम उपदेश दिया—'सदा के लिए जीव-हिंसा से हाथ खींच लो; अपने पिछले दुष्कृतों का प्रायश्चित करो; सारे प्राणियों को अगले आतङ्क से मुक्त करके उत्सुकतापूर्वक

उसके विशेष ध्यान देने का फल यह हुआ कि कन्नौज में बौद्ध धर्म की महती वृद्धि हुई पर दूसरे स्थानों में उसका ह्रास होता गया । जहां फाहियान ने कन्नौज में केवल दो बौद्ध विहार देखे थे, वहीं युआन च्वाँग ने १०० विहारों को पाया।

हर्ष के चरित्र का ठीक अनुमान लगाने के लिए हमें उसे केवल बौद्धधर्मावलम्बी ही न समझना चाहिए। उसने दूसरी जातियों अथवा साधारण जनता की भी उतनी ही अच्छी तरह सेवा की। हम पहले देख चुके हैं कि वह 'नियम-पूर्वक अपनी पंचवार्षिकी परिषद् की आयोजना किया करता था और उसमें सब वर्णों और जातियों के लगभग पांच लाख मनुष्यों को अपनी युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त और सब कुछ दान कर देता था'! [तत्रैव] दान और वदान्यता.में शायद ही कोई इससे आगे कभी निकला हो। उसके प्रतिदिन के दान से १,००० बौद्ध भिक्षु और ५०० ब्राह्मण भोजन पाते थे। युआन च्वाँग हमें बतलाता है कि सारे भारतवर्ष में सर्वत्र नगरों और गाँवों के राज्यमार्गों पर उसने पुण्यशालाएं बनाईं, जिनमें खाने पीने का प्रबन्ध किया गया था, और उनमें वैद्य रक्खे, तथा पथिकों और आस पास के निर्धन मनुष्यों के लिए दवाइयों का प्रबन्ध किया जो उन्हें बिना किसी संकोच के मुफ्त दी जातीं थीं' [Beal, i. 214]। यहाँ भी हर्ष अपनी उदारता में सबसे आगे, शायद अशोक से भी आगे निकल

पुण्यकर्मों के भण्डार का सञ्चय करो, ताकि जिस प्रकार किसी विशाल सरोवर की अगाध गहराई में फेंका हुआ नमक का टुकड़ा वहीं विलीन होकर अपने अस्तित्व को खो देता है, उसी तरह परिमित प्राणियों का बध करने का पाप तेरे पुण्य का अनन्त धारा में विलीन होकर फलीभूत न होने पावे' [५–२५]।

गया था, क्योंकि अशोक के विश्राम-गृहों में पथिकों के लिए मुफ़्त भोजन और औषधि और चिकित्सा का प्रवन्ध नहीं था। बाण ने भी उसके लोक-हित सम्बन्धी अपूर्व कार्यों का जो वर्णन किया है उससे सम्राट् के दानों की सार्वजनीनता प्रगट होती है,—'उसकी छत्रच्छाया में यज्ञ के खम्भों की अविरल पंक्तियों में सत्य-युग अङ्कुरित होता हुआ लगता था, कलिकाल यज्ञों के आकाशविसर्पी धुँए में भागता हुआ सा मालूम होता था, स्वर्ग सुधा-धवल मन्दिरों में उतरता हुआ लगता था, धर्म देवालयों के शिखरों पर फहराती हुई ध्वजाओं में पल्लवित होता हुआ मालूम होता था और गाँव अपने बाहर बनी हुई सभा, दानशाला (सत्र), प्रपा और पत्नी शालाओं के रूप में अनेक धर्मकुञ्जों को जन्म देते हुए प्रतीत होते थे [हर्ष० १२१]।

धर्म के साथ साथ हर्ष विद्या के अनुशीलन और आश्रय-प्रदान के लिए भी विख्यात था। बाण उसके काव्य-कौशल, उसकी मौलिकता और बहुश्रुतता की साक्षी देता है,—'काव्य-कथाओं में वह मानो अपने आपीत अमृत को उंडलता था, [हर्ष० ७१]; 'उसका काव्य-कौशल वर्णनातीत है'; उसकी प्रज्ञा के लिए शास्त्र पर्याप्त विषय नहीं हैं'; 'अशेष ललित कलाएं उसकी प्रतिभा के लिए अत्यन्त संकीर्ण क्षेत्र हैं' [हर्ष० ७८]। यह वर्णन अपने आश्रयदाता का गुणानुवाद करनेवाले दरबारी कवि का अतिशयोक्तिपूर्ण कथन भी हो सकता है, पर इसके समर्थन में एक बाह्य स्रोत से भी हमें कुछ प्रमाण-सामग्री प्राप्य है।

चीनी यात्री इत्सिंग, जो हर्ष की मृत्यु के बाद भारत

१ युआन च्वाँग कहता है कि कनौज में १०० बौद्ध विहारों की प्रतियोगिता में '२०० से अधिक देवमन्दिर विद्यमान थे' [Watters, i. 340]।

में आया (सन् ६७३-८७), लिखता है कि राजा शीलादित्य साहित्य का अत्यन्त शौकीन था और एक बार उसने अपने दरबार के साहित्य-सेवियों को काव्यनिबन्ध लिखने को कहा, जिस पर उन्होंने अपने सम्राट् की सेवा में तत्कालीन लोकप्रिय विषय अर्थात् जातकों या बुद्ध के प्राक्तन जन्मों पर ५०० काव्य उपस्थित किये। इन काव्यों के संग्रह का नाम जातकमाला रक्खा गया, जिसके लेखकों में से विश्रुत आर्यशूर भी माना जाता है [Takakusu, *Itsing*, p. lvi]। स्वयं उसकी रचनाओं के सम्बन्ध में ईत्सिंग कहता है कि हर्ष ने 'बोधि-सत्त्व जीमूतवाहन की कथा को पद्यात्मक रूप दिया, जिसने एक नाग के लिए आत्मसमर्पण किया था'। हमें यह भी बताया गया है कि सम्राट् ने इस नाटक का नाम नागानन्द रक्खा और 'उसे संगीतमय बना कर और उसमें नृत्य और अभिनय का समावेश करके एक मण्डली के द्वारा उसका खेल करवाया जिस से वह उसके जीवन काल में लोकप्रिय हो सके' [ed. Takakusu, p. 163]। संस्कृत साहित्य के इतिहासज्ञ बतलाते हैं कि उसने दो और नाटक, अर्थात् रत्नावली और प्रियदर्शिका रचे और साथ ही एक व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखा। प्राचीन भारत की साहित्यिक समालोचना में हर्ष को उच्च श्रेणी का कवि समझा जाता था यह बात इससे स्पष्ट है कि गीतगोविन्द का रचयिता जयदेव भास और कालिदास के साथ उसके नाम का उल्लेख करके उसे 'प्रथित-यशस्' पूर्ववर्तियों में स्थान देता है। यदि बांसखेरा पटल लेख को उसने स्वयं अपने हाथ से लिखा हो, जिस की अन्तिम पंक्ति के सुन्दर अक्षरों में सम्राट् के हस्ताक्षर हैं, तो हर्ष को एक कुशल लेखन-कला-कोविद भी कहना चाहिए। सम्राट् की बहिन राज्यश्री की

विद्याभिरुचि भी उसके ही जैसी थी। 'वह प्रकृष्ट बुद्धिमती और बौद्धधर्म की सम्मतीय शाखा के सिद्धान्त के ज्ञान के के लिए विख्यात थी,' और 'राजा के पीछे बैठ कर' बड़ी रुचि से महायान पर युआन च्वाँग के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान सुनती थी [*Life* p. 176]।

स्वयं विद्या का प्रेमी और भक्त हो कर, हर्ष विद्वानों का अनुपम आश्रयदाता था। जैसा बाण ने लिखा है 'उसकी विद्वत्ता पण्डितों की सहायता और उपकार करने के लिए है [हर्ष० ५५]।' स्वयं हर्षचरित और कादम्बरी का रचयिता बाण उसके आश्रित साहित्यसेवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध था। किन्तु हमें ऐसे बहुत कम मनुष्यों के नाम ज्ञात हैं जिन्हें अपनी विद्वत्ता के उपलक्ष में राजकीय सन्मान मिला हो। एक शिलालेख में [*Ep. Ind.* i. 180] किसी हरिदत्त का उल्लेख है जिसको हर्ष ने उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचाया था। जीवनी से (p. 154) हमें ज्ञात होता है कि सम्राट् ने जयसेन नामी विद्वान् को जो हेतुविद्या, शब्दविद्या, योग-शास्त्र, चारों वेद, ज्योतिष, भूगोल, वैद्यक, मंत्रशास्त्र और गणित जैसे विषयों में पाण्डित्य के कारण सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त कर चुका था, 'उड़ीसा के अस्सी विशाल नगरों की आय' समर्पण करके उड़ीसा के प्रान्त में बसाना चाहा था। राजा की उदारता से बढ़ कर जयसेन का त्याग था क्योंकि उसने राजा के बार बार के दान विषयक आग्रह को यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मैं अपने आप को संसार और राज के प्रपञ्च में नहीं डालना चाहता। इस सम्बन्ध में हमें हर्ष की उस नीति को स्मरण करना चाहिए जिसके अनुसार वह सरकारी ज़मीन की आय का एक चतुर्थांश विद्वानों को पुरस्कृत करने और दूसरा चतुर्थांश भिन्न भिन्न

सम्प्रदायों को दान देने में खर्च करता था [Watters, i. 176]।

उसके कुछ सामन्त राजाओं पर भी सम्राट् के इस आदर्श का प्रभाव पड़ा। आसाम के राजा कुमार ने युआन च्वाँग की ज्ञानगोष्ठी से, जो उस समय नालन्दा में था, लाभ उठाने के लिए उत्सुकता प्रगट की। उसने नालन्दा के मठाधीश शीलभद्र को एक विशेष सन्देशहर के हाथ एक पत्र[1] भेज कर—जो उसके पास दो दिन के सफ़र के बाद पहुंचाया गया था—युआन च्वाँग को अपने यहाँ बुलाया। अपनी इस प्रार्थना के फलीभूत न होने पर उसने एक और सन्देशहर के द्वारा उसे फिर दुहराया। जब यह प्रार्थना भी विफल हुई तो 'राजा ने बड़े क्रोध में शीलभद्र के लिए अपने हाथ का एक पत्र देकर तीसरा सन्देशहर भेजा, जिसमें उसने आग्रहपूर्वक उससे प्रार्थना की कि मुझे और मेरी प्रजा को बौद्ध धर्म का उपदेश करने के लिए चीनी यात्री को मेरे पास भेजें।' यदि इस पर ध्यान न दिया गया तो 'मुझ में क्रोध का उद्बुद्ध होना अपरिहार्य है, और फिर मध्य-बंगाल के राजा शशाङ्क की भांति, जिसने हाल ही में 'धम्म' को नष्ट कर दिया है और बोधि वृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंका है, नालन्दा के सारे विहार को मटियामेट करने के लिए मुझे अपनी सेना और हाथियों को सजाना पड़ेगा।' इस धमकी का अभीष्ट फल हुआ। युआन च्वाँग रक्षकवर्ग के साथ उसके देश में गया और वहाँ एक महीने से अधिक

---

१ डा० डी० बी० स्पूनर को [Arch. Sur. Report, Eastern Circle, 1917–18] नालन्दा में भास्करवर्मा की एक मुहर मिली थी। जैसा के० एन० दीक्षित ने अनुमान किया है, यह शायद वही मुहर रही होगी जो कुमार के इस पत्र के साथ थी [JBORS, 1920, p. 151]।

टिका रहा। फिर उस स्थिति में जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है, राजा कुमार को उसे लेकर हर्ष के पास जाने के लिए विवश होना पड़ा। इसके उपरान्त बौद्ध धर्म के पोषण में कुमार हर्ष का परम प्रधान मित्र बन गया। चीनी यात्री से विदा होते समय उसने अपने बौद्धधर्म-विषयक उत्साह को निम्न लिखित शब्दों में व्यक्त किया—'यदि आचार्यपाद मेरे राज्य में रह कर मेरी धार्मिक पूजा को ग्रहण कर सकते हैं तो मैं आचार्यपाद की ओर से १०० विहारों की स्थापना करने को तय्यार हूँ' [Life, pp. 170, 171, 187]। हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार वलभी के ध्रुवभट्ट, अथवा जालन्धर, काश्मीर और कपिश के राजाओं ने बौद्धधर्म के पोषण में हर्ष के आदर्श का अनुकरण किया था।

टिप्पणियां

अ—हर्ष के नाटक

रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द ये तीन नाटक साधारणतया हर्ष के बनाये हुए बतलाए जाते हैं, और ऐसा कहने के कई आधार हैं। सब से पहले, जैसा कि कीथ ने निर्देश किया है [Sanskrit Drama, 1924, p. 170], इन तीनों रचनाओं में शैली और भाव का पूर्ण सादृश्य है जिससे उन्हें एक दूसरे से पृथक् करने का प्रयत्न सर्वथा असम्भव है।' एक-कर्तृत्व की छाप सर्वत्र निर्भ्रान्त रूप से ओतप्रोत है। विशेष करके रत्नावली और प्रियदर्शिका में रचना और विषय में परस्पर घनिष्ठ समता है। दोनों नाटिकाओं में चार अङ्क हैं: उनका चरित्रनायक भी एक ही—राजा उदयन—है, और विषय भी एक ही अर्थात् उसकी अनेकों प्रेम-वार्त्ताओं में से एक है [तत्रैव]। तीनों नाटकों में सूत्रधार के मुख से प्रायः एक ही जैसे नान्दीश्लोकों का उच्चारण कराया गया है, केवल नाटकों के भिन्न भिन्न नामों को निभाने के लिए यत्र तत्र आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं। उन सबकी प्रस्तावना में एक श्लोक है जिसमें ये नाटक हर्ष के रचे हुए बतलाये गये हैं, और सर्वत्र एक से शब्दों में हर्ष को महाकवि वर्णन किया गया है। साथ ही तीनों नाटकों की अन्तःसाक्षी भी हर्ष को ही उनका कर्ता सिद्ध करती है क्योंकि उनमें श्लेष के द्वारा हर्ष, उसके आदर्श और कार्यों का संकेत मिलता है।

प्रस्तावना में निश्चित रूप से भिन्न भिन्न दिशाओं से आये हुए (नानादिग्देशादागतेन) उन राजाओं (राजसमूह) का वर्णन किया गया है· जो अपने सम्राट्

(अस्मत्स्वामिना) श्री हर्षदेव की परिचर्या में उपस्थित थे। उसने राजाधिराज की हैसियत से वसन्तोत्सव के अवसर पर (या नागानन्द में इन्द्रोत्सव के समय) उन्हें अपने दरबार में बुलाया था। इतिहास भी इसका साक्षी है, क्योंकि हम जानते हैं कि रण-यात्राओं अथवा धार्मिक सम्मेलनों के अवसरों पर इस प्रकार के सामन्त राजा सदा उसकी टहलबरदारी में हाज़िर रहते थे।

किन्तु हर्ष अपने नाटकों में दूसरे तरीकों से भी अपने स्वरूप को प्रगट करता है। प्रियदर्शिका में विन्ध्यकान्तार के आटविक सामन्त विन्ध्यकेतु की शरण लेने के लिए राज कुमारी के विवश होने की जो घटना उपन्यस्त की गई है उसी जैसे प्रसंग की वास्तविक घटना वह है जिसमें स्वयं

---

१ अकेले इस कथन से ही इस पुराने मत का खण्डन हो जाता है कि इन नाटकों का रचयिता श्री हर्षदेव काश्मीर में इस नाम का एक राजा था, क्योंकि काश्मीर के किसी भी राजा ने उस राजनैतिक पद को प्राप्त नहीं किया जो 'उसके चरणों पर झुके हुए भिन्न भिन्न राज्यों के राजा' इस वर्णन से द्योतित होता है। प्रो० कीथ ने प्रमाण दिया है कि 'दामोदरगुप्त के कुट्टिनीमत में, जो काश्मीर के जयापीड (सन् ७७६—८१३) का आश्रित था, रत्नावली के एक अभिनय का उल्लेख किया गया है जो कि किसी एक राजा की बनाई हुई बतलाई जाती थी,'। इस के होते हुए इन नाटकों का रचयिता काश्मीर का श्री हर्ष [सन् ११‍१३—२५] कभी नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण, धनञ्जय के दशरूप और आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक जैसे ग्रन्थों में, जो काश्मीर के श्री हर्ष से शताब्दियों पहले लिखे जा चुके थे, रत्नावली के उद्धरण मिलते हैं।

हर्ष की बहिन राजकुमारी राज्यश्री को उसी कान्तार में आटविक सामन्त, शरभकेतु और उसके पुत्र व्याघ्रकेतु की शरण लेनी पड़ी थी। इस घटना के बाद प्रियदर्शिका में जैसे राजा आनन्द से विभोर हो गया है, ठीक वैसे ही स्वयं हर्ष ने भी राज्यश्री की प्राप्ति के बाद अपने हृदय में आनन्द का अनुभव किया होगा,—'अहा! इससे अधिक आनन्द क्या हो सकता है कि बहिन की प्राप्ति (भगिनीलाभ) के साथ ही आसमुद्रान्त साम्राज्य का भी लाभ हो गया है (ससागर-महाप्राप्ति) [अङ्क ४। २०]।

हर्ष के नाटकों में और भी कुछ ऐसे स्थल हैं जिनमें उसके इतिहास की प्रतिध्वनि पाई जाती है। रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों के अन्तिम श्लोक में राजा के रूप में स्वयं हर्ष की आशाओं और अभिलाषाओं का व्यक्तीकरण मिलता है—

उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत् प्रीणनं विप्रमुख्याः।
आकल्पान्तं च भूयात् समुपचितसुखः संगमः सज्जनानां
निःशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः॥

'भगवान् वासव (इन्द्र) समय पर वर्षा करके पृथ्वी को प्रचुर सस्यसम्पन्न करें; उत्तम ब्राह्मण अपने धार्मिक अनुष्ठानों से देवताओं को विधिपूर्वक तृप्त करें और अनन्त काल तक सज्जनों का समागम बना रहे जो अशेष आनन्द का स्रोत है!'

हर्ष ने स्वयं अपने देश और प्रजा की भौतिक और नैतिक उन्नति के लिए यही काम किए।

कुछ इसी से मिलते हुए स्वर में रत्नावली में राजा के मुख से निम्नलिखित वाक्य कहलाए गये हैं :—

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः

सम्यक् पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।
.... ॥१।१०॥

'साम्राज्य के शत्रुओं का दमन हो चुका है: शासन का भार योग्य मन्त्रियों पर अवलम्बित है; सारी प्रजा सब प्रकार के क्लेशों से मुक्त कर दी गई है; और शान्ति और रक्षा के आश्रय में वह समृद्ध हो रही है।'

हर्ष भी स्वयं अपने उद्योगों और कार्यों का ठीक इसी प्रकार का सिंहावलोकन दे सकता था।

फिर रत्नावली की प्रस्तावना के निम्नलिखित पद्य में हर्ष के प्रति एक छिपा हुआ संकेत हो सकता है,—

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रः ॥१।५॥

राजाधिराज (उडुपति अर्थात् चन्द्रमा) की विजय हुई है, इससे ब्राह्मण प्रवर समस्त उपद्रवों से मुक्त होवें; पृथिवी प्रचुर सस्यसम्पदा को पैदा करे; महाराजाधिराज अशेष विभूतियों से दीप्त हों' [अङ्क १—श्लोक ५]।

फिर रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों ही में लड़ाई के वर्णन (पहली में वत्सराज के सेनाध्यक्ष रुमरावान् और कोशल लोगों के बीच, दूसरी में वत्सराज के सेनापति विजयसेन और विन्ध्यसामन्त विन्ध्यकेतु के बीच) सैंकड़ों लड़ाइयों के वीर योधा हर्ष के अनुरूप हैं।

'तलवारों के प्रहारों से शिरस्त्राणों के चूर चूर होने के कारण सिर फट गए थे; रुधिर की सरिताएं बह रही थीं; पड़ती हुई चोटों से आग की चिनगारियां निकल रही थीं; जब उसका मुख्य सैन्यदल टूट गया तब रुमरावान् ने रण में सन्मुख होकर मतवाले हाथी पर सवार कोशलराज को ललकारा और अकेले ही एक सौ तीरों से उसका वध कर डाला।'

प्रदर्शिका में रण में काम आए हुए शत्रु की वीरता के प्रति राजा की सराहना भी हर्ष जैसे विजयी के अनुरूप है,-

'रुमण्वन्, विन्ध्यकेतु की वीरोचित मृत्यु ने हमें लज्जित कर दिया है, वह पृथिवी के अत्यन्त पुण्यशाली महापुरुषों के अनुरूप यश के सच्चे पथ का पथिक बन चुका है— 'सत्पुरुषोचितं मार्गमनुगच्छतो यत्सत्यं व्रीडिता एव वयं विन्ध्यकेतोर्मरणेन ।'

रत्नावली में भी 'मृत कोशलराज के प्रति वत्सराज के उद्गारों में उच्च सहृदयता पाई जाती है :—साधु कोशलपते ! साधु, मृत्युरपि ते श्लाघ्यः, यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति । "हे कोशलराज, तुम धन्य हो, तुम्हारी मृत्यु भी प्रशंसनीय है, क्योंकि तुम्हारे शत्रु इस प्रकार तुम्हारे पुरुषोचित पराक्रम का वर्णन कर रहे हैं ।" इस प्रकार की पदावली सम्भवतः हमें अनेकों विजयों के जेता और एक बड़ी विपत्ति के वीर, सच्चे हर्ष, का दर्शन कराती है' [Keith, तत्रैव p. 178]

फिर, रत्नावली में वत्स के शिविर अथवा दरबार के ठाट और विभूति का जो वर्णन दिया गया है उससे हर्ष के शिविर की याद आती है जैसा कि बाण ने उसका वर्णन किया है,-

आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण तुरगान्निर्वर्णयन् वल्लभान् ।

संगीतध्वनिना हृतः क्षितिभृतां गोष्ठीषु तिष्ठन् क्षणम् ॥

यहाँ शिविर का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह घोड़ों के अतुलनीय संग्रह, जयशील हाथियों, संगीत की ध्वनि और राजाओं की गोष्ठियों से उपलक्षित था। ठीक यही चिह्न हर्ष के शिविर के भी थे।

किन्तु नागानन्द[1] की कल्पना, जो प्रत्यक्षतया अन्य दो

१ मालूम होता है कि नागानन्द नाटक माघ कवि को ज्ञात था

नाटकों के बाद का है, और ही भावना से प्रेरित होकर की गई है। यह उसके राज्य के उत्तर काल में रचा गया होगा, जब अपनी विजयों को पूरा करके वह बौद्ध बना और उसने अपने आपको शान्ति और धर्म के कामों में लगाया। यहाँ कथावस्तु को एक भिन्न और उच्चतर तल पर विकसित किया गया है; उसकी मुख्य अभिरुचि न तो युद्ध और भीषण मनोभावों में है और न प्रेम के मृदुल अथवा छिछोरे उद्गारों में। जीवन का गुरुतर और अधिक कष्टसाध्य पहलू, उसके कठोरतर कर्तव्य और अधिक उग्र आदर्श, हमारे सामने लाये गये हैं। हर्ष यहां आत्म-त्याग, दान, महानुभावता और मृत्यु-मुख में भी दृढ संकल्प रहने के भावों का चित्रण करता है [तत्रैव]। उसका आदर्श जीमूतवाहन में व्यक्त किया गया है जो न प्रेमी है न योधा, किन्तु एक नैतिक वीर है जो इस गम्भीर विश्वास से प्रेरित होकर कि आत्म-त्याग छोटे बड़े सभी मनुष्यों का परम कर्तव्य है दूसरों के लिए अपने जीवन को न्योछावर कर देता है। इस प्रकार उसका अन्तिम नाटक उस आन्तरिक क्रान्ति को प्रतिबिम्बित करता है जो उसकी दिग्विजयों और रण-यात्राओं की समाप्ति पर बौद्ध धर्म को ग्रहण करने से हर्ष के अन्दर पैदा हुई। अपने हृदय से सामरिक भावों के निकल जाने पर वह, जिस ने अपने समय के सब राजाओं को अपनी प्रभुता स्वीकार करने के लिए विवश किया था, और जो किसी समय का भीषण विजेता और शत-संख्यक संग्रामों का वीर योधा था, अब अहिंसा को अपने

जो सन् ई० की आठवीं शताब्दी में विद्यमान था और काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा का (जो नवीं शताब्दी से पहले हुआ था) राज कवि शिवस्वामी भी उसे परिचित था [Keith's *Classical Sanskrit Literature*, pp. 56, 60]।

जीवन और अपनी नीति का सिद्धान्त बना कर उस पर कटिबद्ध होता है और एक संग्राम के लिए भी अपने आप को असमर्थ प्रगट करता है,—'जो दया के भाव से प्रेरित होकर बिना कहे और बिना किसी के दबाव के दूसरों के लिए अपना जीवन देने को तय्यार है वह अपने लिए राज्य-प्राप्ति के निमित्त मनुष्यों की निष्ठुर हत्या का कैसे चिन्तन कर सकता है?' इस प्रकार के उद्गार जीमूतवाहन उस समय प्रगट करता है जिस समय कि मालामाल कर देनेवाली अत्यन्त सुलभ विजय उसके सन्मुख निश्चित है। यहाँ मानो हर्ष ही उसके रूप में बोल रहा है जब कि अपने जीवन के अन्तिम भाग में उसकी एकदम काया पलट हो गई थी और संग्रामों और विजयों से कोई सम्पर्क या रुचि न रख कर वह केवल आध्यात्मिक जीवन, त्याग और संन्यास का चिन्तन करता था[२]।

यहां पर यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि प्राचीन काल से ही इन नाटकों के कर्तृत्व के विषय में और भी भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं। हम उस मत का पहले निराकरण कर चुके हैं जो इन्हें काश्मीर के श्री हर्ष की रचनाएं बताता है। किन्तु सबसे पुराना मत मम्मट का है जो अपने काव्यप्रकाश में हर्ष से बाण को (कुछ हस्त-लिखित प्रतियों में धावक को) सोने का उपहार दिये जाने की चर्चा करता है; उसके टीकाकार इस उपहार को रत्नावली के साथ जोड़ते हैं जिसे उसके राजकवि बाण ने हर्ष के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। किन्तु यह देखते हुए कि इन नाटकों और हर्षचरित की शैलियों में कितनी भारी विषमता है, जैसा कि कीथ ने ठीक दिखाया है, इन नाटकों में बाण के कर्तृत्व का विश्वास करना कठिन है। इसके अतिरिक्त राजशेखर की काव्यमीमांसा में एक स्थल ऐसा है जहाँ इन नाटकों के रचना-क्रम से इनके नाम दिये गये हैं (जिनमें प्रियदर्शिका सबसे

अब हम उत्तरकालीन साहित्य में हर्ष के ग्रन्थकर्तृत्व क विषय में जो निर्देश हैं उन पर विचार करके इस विषय को समाप्त करेंगे। बाण अपने हर्षचरित की पद्यात्मक भूमिका में किसी आढ्यराज का और उसके कार्यों [उत्साह] का वर्णन करता है। इससे सम्भवतः उसका तात्पर्य हर्ष [आढ्यराज] की साहित्यिक और राजनीतिक कृतियों [उत्साह] से है। बाण के दो और कथन हैं जो निश्चित रूप से हर्ष के साहित्यिक गुणों का निर्देश करते हैं,—'उसके काव्य विषयक गुणों को व्यक्त करने के लिए शब्द अपर्याप्त हैं;' [हर्ष० ७८] तथा 'अन्यत्र से न पिए हुए भी अमृत को वह काव्य-कथाओं के रूप में बहाता था' [हर्ष० ७१] (काव्यकथास्वपीतमप्यमृतमुद्वमन्तम्)। सोड्ढल (सन् ई० का ग्यारहवीं शताब्दी में) की उदयसुन्दरी कथा में एक स्थल पर हर्ष का उल्लेख भूपाल और कवीन्द्र के रूप में विक्रमादित्य (सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय), मुञ्ज और भोज के साथ किया गया है, जो साहित्य-सभाओं के सभापति थे। इसी ग्रन्थ में एक और स्थल पर श्लेष से हर्ष का निर्देश

पहली और नागानन्द अन्तिम रचना कही गई है) और वे धावक भास के बनाये हुए बतलाये गये हैं, जो एक दरिद्र धोबी से कविराज बना था (धावकोऽपि यद् भासः कवीनामग्रिमोऽभवत्) और जिसे राजा श्री हर्ष-विक्रम ने अपना दरबारी कवि बनाया था। शायद यही स्थल मम्मट के इस कथन का मूल था—'श्री हर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्', जिसका दूसरा पाठ है—'श्रीहर्षादेर्बाणादीनामिव धनम्', जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। इस सारे मामले का तथ्य यह है कि या तो हर्ष ने स्वयं ये नाटक रचे या उनके अज्ञात रचयिता को स्वयं अपने नाम पर उनकी रचना करने की अनुमति दी।

इस प्रकार किया गया है—

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा
सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥

अर्थात् संसार के राजाओं में श्री हर्ष (लक्ष्मी-रमण) तो उसका केवल नाममात्र था, वस्तुतः वह स्वयं अपनी सभा में गीर्हर्ष (सरस्वती के साथ रमण करने वाला—वाग्विलासों में आनन्द-लाभ करने वाला) था, जिसने सौ कोटि सुवर्ण दे कर बाण को सन्मानित किया। विश्रुत कवि जयदेव [जो स्टेन कोनो (Das indische drama, pp. 37–8) के अनुसार सन् ई० की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद नहीं रक्खा जा सकता और जिसके कुछ श्लोक शार्ङ्गधर-पद्धति (सन् १३६३) में उद्धृत किये गये हैं] हर्ष को भास, कालिदास, उसके समकालीन बाण और मयूर तथा उत्तरकालीन चोर कवि की कोटि में रखता है। इसी प्रकार मधुसूदन, सन् १६५४ ई० के लगभग लिखते हुए, बाण और मयूर को हर्ष के दरबार से सम्बद्ध करता है और हर्ष को कविकुल-शिरोमणि (कविजनमूर्धन्य), रत्नावली नाटिका का रचयिता और मालव का अधीश्वर बतलाता है, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

उक्त तीन नाटकों के अतिरिक्त कतिपय अन्य निबन्ध हैं जिनकी उत्पत्ति हर्ष की लेखनी से कही जा सकती है। बाँसखेरा और मधुवन पटलों पर के दोनों लेख, जिन में से पहला स्वयं हर्ष के हस्ताक्षर से प्रमाणित किया गया है, देखने में स्वयं उसके अपने निबन्ध ज्ञात होते हैं। उनमें छन्दोबद्ध श्लोक हैं जिनमें उत्तम काव्यशक्ति प्रदर्शित की गई

है। एक श्लोक (बांसखेरा ५-६=मधुवन ६-७) शार्दूल-विक्रीडित छन्द में हार्दिक वेदना के साथ अपने बड़े भाई राज्यवर्धन के विश्वासघात से मारे जाने का निर्देश करता है। एक दूसरा श्लोक (बांसखेरा १३=मधुवन १६) वसन्त-तिलका वृत्त में लक्ष्मी को बिजली अथवा पानी के बुलबुले की भान्ति चंचल कह कर हर्ष के कुल के तथा दूसरे राजाओं से दान-पट्ट को नेकी से निभाने की प्रार्थना करता है—

अस्मत्कुलक्रममुदारमुदाहरद्भि-
रन्यैश्च दानमिदमभ्यनुमोदनीयम्।
लक्ष्म्यास्तडित्सलिलबुद्बुदचञ्चलाया
दानं फलं परयशः परिपालनञ्च॥

इसके बाद यह सुन्दर हृदयंगम पद्य आता है,—

कर्मणा मनसा वाचा कर्त्तव्यं प्राणिभिर्हितम्।
हर्षेणैतत्समाख्यातं धर्म्मार्ज्जनमनुत्तमम्॥

प्राणियों को मन, वचन, और कर्म से परोपकार करना चाहिए; इसी को हर्ष ने सर्वोत्कृष्ट पुण्य-प्राप्ति कहा है।'

अन्त में बौद्ध धर्म-विषयक दो संक्षिप्त संस्कृत काव्य हैं जो हर्ष के बनाये हुए बतलाये जाते हैं। इनमें से एक जिसका नाम सुप्रभातस्तोत्र है और जिस में बुद्ध की स्तुति की गई है, अन्तिम आवरण-पत्र पर हर्ष के नाम का उल्लेख करता है [Dr. F. W. Thomas in *JRAS* 1903 p. 703-22]; दूसरे को, जिसका नाम अष्टमहाश्रीचैत्यसंस्कृतस्तोत्र है, जिसमें आठ बौद्ध मन्दिरों की महिमा गाई गई है और जो चीनी भाषा में सुरक्षित है, युआन च्वांग ने एक भारतीय राजा का रचा हुआ बतलाया है, जिस को चीन की भाषा में 'सुकृत का सूर्य'=शीलादित्य कहा गया है, जिस उपाधि से हर्ष विख्यात था [नरिमान, जैक्सन, और औगडन की

प्रियदर्शिका, जो कोलम्बिया यूनिवर्सिटी से प्रकाशित हुई है, p. XIV; इस टिप्पणी में प्रयुक्त कतिपय निर्देशों और उद्बोधनों के लिए ग्रन्थकार प्रियदर्शिका के इस संस्करण का ऋणी है]।

ब—गुप्त-काल की कला

हर्ष के अधीन भारतवर्ष के इतिहास के सम्बन्ध में उस युग की भारतीय कला की अवस्था पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा। हर्ष के समय में गुप्त-कला से ख्यात कला विकास और निष्पन्नता की चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी, यद्यपि निश्चयपूर्वक यह निर्णय करना कठिन है कि उसके अनेकों विख्यात उदाहरणों में से कौन से हर्ष के राज्य से सम्बद्ध हैं। अतएव यहां गुप्त-कला की मुख्य विशेषताओं का समष्टि रूप से एक संक्षिप्त दिग्दर्शन दिया गया है, और प्रत्येक गुण के उत्तम उदाहरणों का भी निर्देश किया गया है।

गुप्त-काल केवल भारतीय साहित्य का ही नहीं किन्तु भारतीय कला का भी स्वर्ण युग था। गुप्त नरेशों की प्रतापशालिनी विजयों से राजनीति के एक सूत्र में बँध कर भारतवर्ष ने जो सर्वतोमुखी आत्मविकास की सामर्थ्य प्राप्त की, उसी का एक अभिन्न अंग गुप्तकालीन कला की उन्नति थी। भारतवर्ष इस आत्मोत्कर्ष के स्वानुभव का प्रभाव औरों पर भी डाल रहा था। इससे पूर्व भारतवर्षने कुषाण-समय में वाल्हीक के उत्तरवर्ती मार्ग से और आन्ध्रकाल में रोम के साथ होने वाले व्यापार के दक्षिणी मार्ग से पश्चिमी देशों पर अपना प्रभाव डाला था; और अब उसने मध्य-एशिया के मार्ग से सुदूर पूर्व के चीन-जापान को तथा समुद्र की राह से बृहत्तरभारत के देशों और द्वीपों को प्रभावान्वित किया।

भारतीय संस्कृति का शुद्ध रूप, उसकी सर्वप्रियता और व्यापकता गुप्त सम्राटों में मूर्तिमान् हुई; जिन्होंने ब्राह्मण अथवा बौद्ध धर्म में से किसी एक को राज-धर्म न बना कर उनकी शाखाओं के रूप में उस काल के सारे प्रधान सम्प्रदायों को समान भाव से आश्रय दिया। ये शाखाएं वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदायों और महायान बौद्ध धर्म के रूप में थीं जिनके पूज्य देवता क्रमसे विष्णु शिव, देवी, और बुद्ध या बोधिसत्त्व थे। इन सम्प्रदायों से सम्बद्ध मूर्तियां और मन्दिर उस युग के कला सम्बन्धी इतिहास के प्रमाण हैं।

अब हम संक्षेप से इनमें से प्रत्येक के अवशिष्ट मन्दिरों में से महत्त्वपूर्ण उदाहरणों का निर्देश करेंगे। कानपुर ज़िले में भितर गाँव का ईंट का चौकोर मन्दिर, जो सन् ई० की छुठी शताब्दी का बना हुआ बतलाया जाता है और जिसके ऊपर ऊंचा शिखर है, नानाकृतिचित्रित ईंटों से अलंकृत है। उसकी दीवारों में अनेक मिट्टी के बने हुए मनोहर चौकोर पट्टों की [Terra-cotta panels] सजावट है जिनमें शिव सम्बन्धी कथाओं और दृश्यों का प्रदर्शन किया गया है। ग्वालियर में बेसनगर के निकट उदयगिरि पर्वत पर गुफा-मन्दिर बने हुए हैं जिन में से एक पर सन् ४०१ ई० का एक शिलालेख खुदा हुआ है। इन मन्दिरों में हमें विष्णु के वराह अवतार की भव्य मूर्ति और साथ ही देवियों के रूप में मकर वाहन पर स्थित गङ्गा और यमुना की सुन्दर मूर्तियां मिलती हैं। इसी के समीप पठारों में कृष्ण जन्म का बड़ा शिलापट्ट विद्यमान है जिसमें पांच परिचारिकाओं से शुश्रूषित यशोदा के पार्श्व में लेटे हुए नवजात कृष्ण को दर्शाया गया है। बेगलर के विचार में यह मूर्ति भारतीय शिल्प की सर्वोत्कृष्ट और सबसे बड़ी कृति है।

झांसी ज़िले के ललितपुर परगने में देवगढ़ के मन्दिर

के शिलापट्टों पर, जो सन् ई० की छठी शताब्दी का बना हुआ बताया जाता है, बहुत ही अनुपम शिल्प के नमूने हैं। इनमें से एक के विषय में जिसमें योगीश्वर शिव का चित्रण है, विन्सेंट स्मिथ का मत है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास में यही सर्वोत्तम कृति है। एक अन्य मूर्ति में अनन्त शेष पर शयन करते हुए विष्णु दिखाये गये हैं। जोधपुर के मन्दिर में मिले हुए सन् ई० की चौथी शताब्दी की खण्डित मूर्तियों में कृष्ण सम्बन्धी सुन्दर दृश्य प्रदर्शित किये गये हैं जिनमें गोवर्धन-धारण का दृश्य भी है। इलाहाबाद ज़िले के कोसम स्थान में शिव और पार्वती की बहुत ही सुन्दर मूर्ति मिली थी जिस पर ४५८ ई० का लेख उत्कीर्ण है।

इसके बाद ऐहोल का दुर्गा-मन्दिर है जिसमें पंचम शताब्दी के आस पास की नटराज शिव की मूर्ति है। ऐहोल में ही छठी शताब्दी के कुछ और मन्दिर हैं जिनमें वैष्णव धर्म की मूर्तियां हैं। ये मूर्तियां पास की बादामि गुफाओं में प्राप्त उस शिल्प से बहुत मिलती हैं जिसको हैवेल और कुमार स्वामी ने हिन्दू कला में सर्वश्रेष्ठ माना है। गुफा १ शैव मन्दिर है जिसमें ताण्डव नृत्य की मूर्ति है। गुफाएं २ और ३ वैष्णव मन्दिर हैं। गुफा ४ जैन गुफा है जिसमें तीर्थंकर की मूर्तियां हैं। एलोरा गुप्त काल की ब्राह्मण कला का एक और विख्यात केन्द्र था। यहां पर लगभग सन् ७०० ई० की दशावतार (दश अवतार) गुफा है जिसमें भैरव और काली की मूर्तियां तथा शिव के द्वारा मार्कण्डेय का उद्धार दिखाया गया है। एलोरा में किञ्चित् उत्तरवर्ती काल का एक कैलास मन्दिर भी है जिसमें सुन्दर ताण्डव नृत्य दर्शाया गया है।

किन्तु गुप्त-काल का सर्वोत्कृष्ट रूप बौद्ध कला में प्रगट हुआ। इनमें से कुछ प्रारम्भिक उदाहरण इलाहाबाद के

निकट गढ़वा स्थान से मिले हैं जिन पर चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त के समय के लेख हैं, किन्तु सबसे बढ़िया उदाहरण सारनाथ में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि सारनाथ में मिली हुई मूर्तियां भिन्न भिन्न कालों की हैं, तथापि उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध गुप्त काल से है। उनमें शुद्ध स्वदेशी शैली और भाव प्रगट हैं जिन पर विदेशी छाप बिल्कुल नहीं है। उदाहरण के लिए उस काल की बुद्ध-मूर्ति, यद्यपि उसकी उत्पत्ति कुषाण मूर्ति से हुई, 'कला के एक अपूर्व शुद्ध राष्ट्रीय विकास को' प्रदर्शित करती है। 'इस में हमें एक नये ही आदर्श के दर्शन होते हैं, जो कला-विषयक सुन्दरता में अपनी पूर्ववर्तिनी प्रतिमा से कहीं अधिक बढ़ चढ़ कर है। गुप्त कालीन बुद्ध-मूर्तियों में जो अद्भुत शान्ति और समाधिमत्ता पायी जाती है, उसमें हमें बौद्ध आदर्श का ही सुन्दर साक्षात्कार होता है। वस्त्र विन्यास के प्रदर्शन में सुकड़ने का अभाव होने से, त्रिचीवरों को बाह्य रेखा से ही अङ्कित किया गया है। परन्तु भगवान् के सिर के चारों ओर का प्रभामण्डल पुष्पों और पत्तों के उत्किरण से जी खोल कर सजाया गया है। स्पष्ट है कि प्रभामण्डल के वास्तविक अभिप्राय को भूल कर लोग उसे शोभा और सजावट की वस्तु समझने लगे थे। इस प्रकार गुप्तकालीन शिल्पियों ने उन विशेषताओं को बहुत अंश में या तो मिटा दिया या परिवर्तित कर दिया था जो कुषाण काल में बुद्ध की मूर्ति के विदेशी पन को प्रगट करती थीं' [Dr. Vogel in *Sarnath Museum Catalogue*, pp. 19]।

बुद्ध की पद्मासनस्थ मूर्ति, जिसमें उनका ऋषिपत्तन में प्रथम धर्मोपदेश दिखाया गया है, भारतीय कला की सर्वोच्च कृतियों में मानी जाती है। भावों को प्रगट करने के लिये

शिल्पी की लाक्षणिक भाषा का उसमें और विकास पाया जाता है। दोनों हाथ धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा में दिखाये गये है, और चौकी पर दो हिरनों के बीच में एक धर्मचक्र बनाया गया है, जिनसे क्रमशः सारनाथ के मृगदाव स्थान और बुद्ध के सर्वप्रथम प्रवर्तित धर्म की सूचना मिलती है।

गुप्त काल में 'मुद्राएं' भी विकसित की गई थीं जिनका उत्तरकालीन बौद्ध मूर्ति कला में इतना प्रधान स्थान है।

इन बौद्ध मूर्तियों से यह भी सूचित होता है कि और मनुष्यों की अपेक्षा बुद्ध के बड़प्पन का कितना ऊंचा भाव लोगों में हो गया था क्योंकि बुद्ध की तुलना में उनके साथियों की मूर्तियां बहुत ही छोटी और अप्रधान बनाई गई हैं।

प्रारम्भिक बौद्ध कला में सिद्धान्त-वश बुद्ध को मूर्ति-रूप में नहीं दिखाया गया था, परन्तु गुप्त-कला में विविध रूपों में बुद्ध की अनेक मूर्तियां बनाई गईं। विहारों, में उनकी कक्षाओं में, चैत्यों और मन्दिरों में, यही नहीं, बाहरी ताखों और स्तूपों तक में बुद्ध की मूर्तियां प्रतिष्ठापित की गईं।

गुप्त मूर्तियों की एक और विशेषता यह है कि उनमें बोधिसत्त्वों के सम्प्रदाय की प्रधानता है। यह मत उस समय बहुत मान्य हो चुका था। हमें केवल मैत्रेय की ही नहीं, किन्तु विशेष करके अवलोकितेश्वर की भी अनेकों मूर्तियां मिलती हैं।

बौद्ध धर्म के गुप्तकालीन इतिहास में बहुत से हिन्दू देवताओं का भी समावेश पाया जाता है। उदाहरण के लिए धन सम्पत्ति के देवता वैश्रवण कुबेर, उर्वरापन की देवी वसुधारा, समृद्धि की देवी तारा, मारीची आदि की मूर्तियां सारनाथ की खुदाइयों में मिली हैं।

बौद्ध देवी देवताओं के विस्तार के कारण साक्षात् बुद्ध की ही जीवन-घटनाओं का चित्रण करने वाली मूर्तियां कम बनने लगीं। इस बात में गुप्त कला अपनी पूर्ववर्ती गान्धार कला [Græco Buddhist art] से भिन्न है जिस में बुद्ध के जीवन की प्रत्येक घटना को दिखाने के लिए सहस्रों मूर्तियां बना डाली गई थीं। इसी कारण हम यह भी देखते हैं कि गुप्त काल के शिल्पियों को जातक-कथाओं के चित्रण करने का वैसा उत्साह नहीं रह गया है जैसा पहले के लोगों को सांची, भारहुत, मथुरा, गन्धार आदि की कला में था।

सारनाथ के अतिरिक्त गुप्त शिल्प के कुछ सर्वोत्तम उदाहरण नालन्दा की खुदाई में भी मिले हैं।

मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्त कला की उन्नति उस युग की मुहरों और सोने के सिक्कों से भी प्रगट होती है, जो गढ़न्त में बहुत ही उत्कृष्ट हैं।

लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर में इस युग की बुद्ध की एक छोटी सी खड़ी सुवर्ण प्रतिमा भी सुरक्षित है। यहाँ पर देहली के लोह-स्तम्भ का निर्देश कर देना भी उचित होगा जिसे पांचवीं शताब्दी के लगभग राजा चन्द्र वर्मा का बनाया हुआ माना जाता है जो आर्यावर्त के उन राजाओं में से था जिन्हें समुद्रगुप्त ने जीता था।

शिल्प और चित्रकला के कुछ सर्वोत्कृष्ट नमूने अजन्ता में उपलब्ध हैं। वहाँ की गुफाओं की संख्या २९ है और उनका समय लगभग ५० ई० से ६४२ ई० के अन्दर विभक्त है। नं १३ का समय २०० ई० पूर्व तक होना सम्भव है, क्योंकि उसकी मूर्तियां सांची की मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। नं० ८-१३ की गुफाएं ई० पूर्व २०० से ई० १५० तक की मानी जाती हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध हीनयान बौद्धधर्म से है। नं० ६ और ७ सन् ४५० और ५५० के मध्य की हैं। नं० १-५

और १४-१६ सन् ५०० और ६४२ के बीच की खोदी हुई मानी जाती हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि नं० ६, १०, १६ और २६ चैत्यों के रूप में हैं, जब कि शेष विहार-जैसी हैं—

अजन्ता के लक्षणों में ये उल्लेखनीय हैं—

(१) परिचारकों समेत बुद्ध जो नं० ६ के द्वार पर विद्यमान है।

(२) गुफा नं० १६ और २६ के दरवाज़ों पर देवीरूप में गंगायमुना की मूर्तियां।

(३) गुफा नं २६ के भीतर परिनिर्वाण के समय की बुद्ध की २३$\frac{1}{2}$ फुट लम्बी मूर्ति।

(४) उसी गुफा में मार के द्वारा बुद्ध के प्रलोभन का दृश्य।

(५) बुद्ध के जन्म-जन्मान्तर की घटनाएं जिनका प्रदर्शन गुफा नं० १ में किया गया है।

अजन्ता के चित्र इतने विख्यात हैं कि यहाँ पर उनका उल्लेख करना अनावश्यक होगा। वे पृथक् वर्णन के ही योग्य हैं।

छठा अध्याय

आर्थिक दशाएं।

धार्मिक और नैतिक उन्नति का वर्णन करके अब हम युआन च्वाँग के आधार से देश की भौतिक उन्नति पर विचार करने के लिए अग्रसर होते हैं। समृद्धि के केन्द्र नगर थे, जिनमें से कुछ नये नगर हर्ष कालीन भारत में उदय को प्राप्त हुए, तथा पुराने और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नगरों का ह्रास हो गया, क्यों कि देश में जीवन का प्राण अब उनसे दूर नये मार्गों में बहने लगा था। पाटलिपुत्र अब उत्तरी भारत का प्रधान नगर नहीं रह गया था। उसका स्थान गङ्गा के तट पर बसे हुए कन्नौज ने ले लिया था, जहाँ १०,००० भिक्षुओं के रहने के लिए १०० विहारों और २०० देव-मन्दिरों समेत दोनों बौद्ध और ब्राह्मण धर्म समृद्ध दशा में विद्यमान थे। नगर, जो लगभग पांच मील लम्बा और डेढ मील चौड़ा था, बहुत मज़बूती से सुरक्षित किया गया था। उसकी सम्पत्ति उसके 'ऊँचे भवन, सुन्दर उद्यान, निर्मल जल के तडाग और विदेशों से संगृहीत दुर्लभ वस्तुओं के भाण्डागारों' में प्रगट होती थी। नागरिकों की सुसंस्कृत आकृति, उनके चमकते हुए रेशमी दुकूल, ज्ञान और कला-विषयक अनुरक्ति, उनके स्फुट और मधुर आलाप, और धनाढ्य परिवार ये सब उस नगर की सम्पन्नता को प्रगट करते थे [Watters 1. 340]। वह सर्वथा उस विशाल सभा के लिए अनुरूप स्थान था जिसे हर्ष ने वहां बुलाया था। प्रयाग या इलाहाबाद भी, ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ, जिससे उसका सम्बन्ध था, महत्त्वपूर्ण स्थान

बन गया था। उसे हर्ष की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था अर्थात् पञ्चवार्षिकी मोक्ष-परिषद् का केन्द्र बनने का गौरव प्राप्त हुआ, जिसमें भारतवर्ष के सभी भागों से लाखों लोग दान लेने के लिए इकट्ठा हुए थे। बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ उसके तीर्थ स्थानों का भी ह्रास हो गया था। श्रावस्ती में फ़ाहियान ने ९८ विहार देखे थे, पर अब युआन च्वाँग ने, जिसे वहाँ केवल एक विहार मिला, उसे खण्डहरों का ढेर पाया। बौद्ध धर्म के सर्वश्रेष्ठ तीर्थस्थान कपिलवस्तु में, जिसे कभी अपने १,००० से भी अधिक विहारों का गर्व था, अब केवल एक विहार शेष रह गया था जिसमें तीस भिक्षु रहते थे! बौद्ध धर्म के एक और विशाल अड्डे अर्थात् वैशाली देश में 'हमारे यात्री को उस प्रदेश के उजाड़ जंगलों से ढके हुए खंडहरों के ऊपर जाने में हार्दिक कष्ट हुआ होगा जिसके विषय में वह बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से कभी उसके समृद्धिशाली होने का वर्णन पढ़ चुका था' [Watters, ii. 77]। फिर भी पूर्वी भारत में नालन्दा और पश्चिमी भारत में वलभी जैसे कतिपय नये केन्द्रों में, जो अब अपनी महिमा के शिखर पर पहुँच चुके थे, बौद्ध धर्म नया जीवन ग्रहण कर रहा था। हर्ष के अधीन भारत के अन्य समृद्धिशाली-नगर, जिनको देखने अथवा वर्णन करने में युआन च्वाँग ने उपेक्षा नहीं की, निम्न लिखित थे:—मथुरा जो बीस लि या चार मील के घेरे में बसा हुआ था और जो 'कपास के धारीदार नफ़ीस कपड़े और सोने के काम के लिए, अपने मन्दिरों और विहारों के लिए, अशोक के बनाये हुए स्तूपों और बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के अवशेषों पर बने हुए स्तूपों के लिए विख्यात था [Watters, 301-2]; स्थानेश्वर, जिसमें १०० मन्दिर विद्यमान थे और जिसके समृद्ध व्यापार के द्वारा

दूसरे देशों से दुर्लभ वस्तुएं वहाँ आती थीं [तत्रैव, p. 314], और जहाँ आरम्भ में हर्ष की राजधानी थी; बिजनौर के निकट मतिपुर, जिसमें ५० मन्दिर थे और जो अन्न, फल और फूलों से सम्पन्न था [तत्रैव, p. 322]; मयूर या हरद्वार जिसमें बहुत बड़ी जन-संख्या निवास करती थी और इसके अतिरिक्त जहां दूर दूर देशों से निरन्तर सहस्रों मनुष्य उसके पवित्र जल में स्नान करने आते थे और जहां धर्मात्मा राजाओं ने सदाव्रत में दीनों को स्वादिष्ट भोजन और आवश्यक औषधियां वितरण करने के लिए अनेकों पुण्य-शालाएं खोल रक्खी थीं [तत्रैव, p. 328]; गोविषाण (आधुनिक रामपुर और पीलीभीत), जिसकी बड़ी सम्पन्न बस्ती थी और जिसमें ३० मन्दिर थे; अहिच्छत्र और पि-लो-शन्न; कपिथ या संकाश्य; अयोध्या, जिसमें १०० बौद्ध विहार और १० मन्दिर थे, श्रावस्ती के निकट और प्रयाग के उत्तर में कोशाम्बि, जिसमें वाटर्ज़ के अनुसार ५० मन्दिर थे किन्तु जहाँ बौद्ध धर्म क्षीण हो रहा था; विशोक (विन्सेंट स्मिथ के अनुसार बाराबंकी के ज़िले में) जिसमें २० बौद्ध विहार और ५० मन्दिर थे; वाराणसी, जिसमें १०० से अधिक मन्दिर थे, 'जिसमें बहुभूमिक प्रासाद थे, और जिसके मन्दिरों के छज्जे उत्कीर्ण पत्थर और काष्ठ के बने हुए थे,' उसके मुहल्ले एक दूसरे से सटे हुए थे, उसके अनगिन्त निवास अपरिमित धन से सम्पन्न थे, और उनके घर दुर्लभ बहुमूल्य वस्तुओं से भरे हुए थे;' बिहार में चम्पा और राजमहल; बंगाल में पुण्यवर्धन (रङ्गपुर), जिसमें १०० मन्दिर और २० विहार थे, जिसकी आबादी समृद्ध दशा में थी और जहाँ

'बावड़ी, अतिथि-भवन और इधर उधर बीच बीच में फुलवाड़ियां थीं:' समतट (बंगाल में फरीदपुर) जिसमें ३० से अधिक विहार और १०० से अधिक मन्दिर थे; ताम्रलिप्ति जिसमें ५० से अधिक मन्दिर थे और जो समुद्र यात्रा के लिए बंगाल का बन्दरगाह था: कर्णसुवर्ण (जिसका तादात्म्य बर्द्वान, बीरभूम, और मुर्शिदाबाद के ज़िलों के साथ किया गया है और जो शशाङ्क का राष्ट्र था), जिसकी (अज्ञात) राजधानी का घेरा ४ मील से अधिक था; और अन्ततः कामरूप, जिसमें सैकड़ों मन्दिर थे और जिस पर हर्ष का मित्र कुमार शासन करता था।

नगरों का निर्माण-शिल्प और वास्तु योजना [Town planning] का ढंग उस युग की उच्च कोटि की आर्थिक उन्नति का निर्देश करता है। गृहशिल्पियों को बाण ने गृहचिन्तक कहा है। नगर चौड़ी और ऊंची चहारदीवारियों [प्राकार] के अंदर बंद होते थे। दीवारें साधारणतया ईंटों की बनी होती थीं, किन्तु जहां ज़मीन नीची और नम होती थी वहां घरों की दीवारें और बाड़ें पलस्तर किये हुए बांस और काष्ठ की होती थीं। ऊंची श्रेणी के मकानों में 'सभा-भवन होते थे और 'उनके सौधों पर चन्द्रशालाएं बनी रहती थीं, जिनमें लकड़ी की सपाट छत से पटे हुए कमरे होते थे, जिन पर पलस्तर [सुधोपलेप] लगा रहता था। उनकी ऊँचाई भी बहुत ज़्यादा होती थी। सफ़ेदी का वर्णन करते हुए बाण हमें बतलाता है कि 'मज़दूर लोग हाथों में कूची लेकर और कंधों पर चूने के डोल रख कर, सीढ़ियों पर चढ़ कर महल की गली की दीवार की चोटी पर सफेदी कर रहे थे' (उत्कूर्चककरैश्च सुधाकर्परस्कन्धैरधिरोहिणी-समारूढैर्धवलीक्रियमाणप्रासादप्रतोलीप्राकारशिखरम्-

पृ० १४२] ग़रीबों के मकान 'घास-फूस के छाये हुए और ईंटों अथवा तख़्तों के बने हुए थे; उनकी दीवारें चूने से पुती होती थीं और फ़र्श गोबर से लीप कर शुद्ध किये जाते थे। उन पर मौसमी फूल बखेरे जाते थे।' युआन च्वांग के विचार में सार्वजनीन भवनों अर्थात् बौद्ध विहारों की वास्तु कला 'अत्यन्त दर्शनीय' थी। 'उनके चबूतरे के चारों कोनों में से प्रत्येक कोने पर एक एक मीनार है और उनमें क्रम से उठे हुए, भिन्न भिन्न सतहों पर, तीन समानान्तर भवन हैं। कड़ियों और छत के शहतीरों पर विलक्षण तस्वीरें खुदी हुई हैं, और दरवाज़ों, खिड़कियों और दीवारों पर भिन्न भिन्न रङ्गों की चित्रकारी की गई है।'[1] जनता के निजी मकान 'अन्दर से बड़े भव्य किन्तु बाहर से सादे' होते थे।

घर के सामान (परिच्छद या उपकरण) में ऐसे आसनों का उल्लेख किया गया है जो डोर से बने हुए बेंच की तरह थे। ये आसन राजपरिवार, बड़े आदमियों, राजकर्मचारियों और उच्च वर्ग के लोगों की मर्यादा और प्रथा के अनुसार

१ इस सम्बन्ध में हम नालन्दा विहार के भवनों और वास्तुकला की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं, जैसा युआन च्वाँग ने उनका वर्णन किया है। उसने उसके कई मंज़िले भवनों, बहुमूल्य वस्तुओं से सजे हुए बुर्जों, उपरले कमरों और अभ्रभेदी मीनारों की चर्चा की है। भवनों का बाहरी विराट् वैभव उनके भीतरी सुकुमार सौन्दर्य से अनमिल था। उनके भीतर 'नाग-दन्तकों, रङ्गे हुए छज्जों, नक्क़ाशी किये हुए और सजे हुए लालिमा-युक्त-मोती-जैसे स्तम्भों, बहुमूल्य पदार्थों से सजी हुई छोटे छोटे स्तम्भों की पंक्तियों, और प्रकाश को सहस्रधा प्रतिबिम्बित करने वाले देदीप्यमान खपरैलों से ढकी हुई छतों की अपूर्व शोभा थी और उनकी शिल्प रचना सर्वगुणमयी थी' [*Life*, p. 111, and Watters, ii. 165]।

भिन्न भिन्न प्रकार से सजाये जाते थे। आसनों के चौखटों पर भिन्न रुचियों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से नक्क़ाशी की जाती थी। सम्राट् एक बहुत चौड़े और ऊंचे मञ्च पर बैठता था जिस पर बीच में छोटे मोती जड़े होते थे। मञ्च पर उसका वास्तविक सिंहासन रक्खा जाता था जो पतले कपड़े से ढका होता था और जिस पर चढ़ने के लिए एक मणिमय पादपीठ होता था। हम पहले देख चुके हैं कि युआन च्वांग की भाँति बाण ने भी हर्ष को मणिमय पीढ़ा बरतते देखा था।

युआन च्वांग ने नगर-योजना के विषय में भी कुछ ब्योरे वार वर्णन दिया है। राजमार्ग उसे संकरे, टेढ़े-मेढ़े रास्ते जैसे लगे किन्तु अन्य बातों में नगर योजना में कुछ निश्चित सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाता था। दूकानें नगर के राजमार्गों पर और क्षुद्र हट्टियां या धर्मशालाएं आम सड़कों पर बनाई गई थीं। मलिन अथवा निन्दनीय पेशे करने वाले लोगों को नगर से बाहर रहना पड़ता था। ये कसाई, मछुए, नट, वधिक और गलियों का कूड़ा-करकट ढोने वाले लोग थे। उनके घर पर पहचान के लिए विशेष चिह्न लगा दिये जाते थे। जब वे नगर के अन्दर काम करने के लिए इधर उधर घरों में जाते थे तो वे दबे पांव बांई ओर को निकल कर चलते थे। ये नियम ब्राह्मण धर्म ग्रन्थों के अनुसार नागरिकों के शारीरिक और नैतिक हित के लिए रक्खे गये थे।

वास्तुकला, शिल्प, गृह निर्माण के अतिरिक्त विविध दस्तकारियों में भी बहुत उन्नति की गई थी। युआन च्वांग ने उस काल के नाना प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है। प्रथम कपास और रेशम के बने हुए कौशेय वस्त्र थे। दूसरे क्षौम या सन के कपड़े थे, जो अतसी, पाट और सनई के

रेशों से तय्यार किये जाते थे। पहनने की वस्तुओं का तीसरा प्रकार कम्बल या ऊनी कपड़ा था। चौथी श्रेणी का कपड़ा वह था जो एक प्रकार के जंगली जन्तुओं की बहुत नफ़ीस और मुलायम ऊन से बनाया जाता था, जिसे आसानी से काता और बुना जा सकता था। लोगों का वेश सादा था, जिसमें एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीय होता था, जिनमें सिलाई आदि का कुछ काम न था। 'पुरुष कमर और भुज कक्षाओं तक उत्तरीय पहनते और कन्धों को नंगा रहने देते हैं। स्त्रियां एक लम्बी कुरती पहनती हैं जो कन्धों को ढक लेती है और ढीली ढाली नीचे तक पहुँचती है।' शीतकाल में उत्तरी भारतवर्ष के उन भागों में तंग मिरज़इयां बरती जाती थीं जहां कड़ाके का जाड़ा पड़ता था। चीनी यात्री ने सर्दी से बचने के लिए आसाम के राजा से पशमीने की टोपी के दान को सहर्ष स्वीकार किया था। राजा-महाराजा और आढ्य पुरुष आभूषणों का स्वच्छन्द व्यवहार करते थे। सिर पर मालाएं और मणिमय मुकुट पहने जाते थे और शरीर के लिए अंगुलीय, अंगद और हार बरते जाते थे।

व्यवसायिक जीवन का संगठन जातियों और श्रेणी या पूगों के आधार पर किया गया था। देश के व्यवसायिक जीवन में ब्राह्मणों का कोई भाग नहीं था, वे आर्थिक जीवन से दूर रहते थे और केवल जीवन के आध्यात्मिक हितों से रुचि रखते थे। शासन-कार्य को क्षत्रियों ने अपने हाथ में ले रक्खा था। देशी और विदेशी व्यापार सब वैश्यों के हाथ में था। खेती, जो देश का मुख्य व्यवसाय था, शूद्रों के हाथ में था। सिंचाई के साधनों में बाण ने तुलायन्त्रों अर्थात् पानी के पम्पों का निर्देश किया है। युआन च्वांग ने

'मिश्रित जातियों' का निर्देश भी किया है अर्थात् वे संघ जिनमें नाना जाति के पुरुष थे, अतएव जो पूग या श्रेणी जान पड़ते हैं (जैसे कि वाटर्ज़ ने स्पष्ट किया है) और जो देश में बहुतायत से विद्यमान थे [Watters, i. 147, 148, 168]। बाण ने वर्णन किया है कि राजकुमारी राज्यश्री के विवाह के अवसर पर 'महल को सजाने के लिए सकल देशों से' बढ़ई, चितेरे, लेप्यकार जैसे 'निपुण शिल्पियों के समूह बुलाये गये थे' [सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम् हर्ष० १४२]। उसने गुरु के पास जाकर शिल्प सीखने का भी निर्देश किया है; नौसिखिये लोग नवसेवक कहलाते थे।

उस काल के विविध शिल्प कौशल का कुछ ज्ञान राजकीय उपहारों के अध्ययन से मिल सकता है, जिसका वर्णन बाण और चीनी यात्री ने किया है। आसाम के राजा ने हर्ष को जो उपहार भेजे थे उनमें निम्नलिखित वस्तुएं सम्मिलित थीं—अति उत्तम प्रकार से अलंकृत एक छाता जिसकी मणिमय शलाकाएं (तीलियां) थीं, और जिसका आच्छादन सफ़ेद दुकूल का बना हुआ था; चूड़ामणि; मोतियों की मालाएं; नाना प्रकार के रंगों से रंगे हुए बेंत की टोकरियों में लपेट कर रक्खे हुए तौलिये; शुक्ति शंख और नीलम के बने हुए तथा चतुर शिल्पियों से उल्लिखित पाने के बर्तनों के समूह [पानभाजननिचयम्]; चर्मबन्ध, जिनके किनारे मन को मोहनेवाले थे और जिन पर सोने के पत्तों का काम हो रहा था; मुलायम कौपीन; मृग-चर्म और अन्य चित्रित वस्त्रों के तकिये; बेंत की कुर्सियाँ [वेत्रमय आसन]; सुन्दर लेख के ग्रन्थ जिनके पत्र अगर के छिल्के के बने हुए थे; नक्क़ाशी किये हुए सन्दूक, इत्यादि [हर्ष० २१७]। युआन च्वाँग ने भी बुद्ध की सोने की काय-परिमाण मूर्ति का निर्देश किया है जो कन्नौज की सभा के अवसर पर पूजा के लिए

बनाई गई थी जिसको राजा ने भी 'एक सोने की थाली, एक सोने का प्याला, सात सोने के कलश, एक सोने का डंडा, ३,००० सुवर्ण-मुद्राएं और बढ़िया सूती कपड़े की ३,००० पोशाकें भेंट चढ़ाई [*Life*, p. 178]। स्वयं युआन च्वाँग भारतवर्ष से अन्य वस्तुओं के साथ पुस्तकें और हस्तालिखित प्रतियाँ और सोने चाँदी और चन्दन की बनी हुई बुद्ध की मूर्तियां ले गया था। वह यह भी कहता है कि भारतवर्ष में सोना, सफ़ेद पत्थर (?) और बिल्लौर की बहुत प्रचुरता है' [Watters, i. 178]।

अन्त में यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि उन दिनों भारतवर्ष में रुपया या विनिमय के साधनों में चीनी यात्री के विवरण के अनुसार केवल सोने और चांदी के सिक्के ही नहीं किन्तु कौड़ियाँ और छोटे मोती भी प्रचलित थे [तत्रैव]।

सातवां अध्याय

सामाजिक जीवन

अब उस काल के लोगों के सामाजिक जीवन, आचार-व्यवहार और रीति रिवाजों पर विचार करना शेष है। चार वर्णों के अतिरिक्त युआन च्वांग 'वर्ण-संकर जातियों' का भी उल्लेख करता है। 'आचार-विषयक पवित्रता की भिन्न भिन्न श्रेणियां ही चार वर्ण हैं।' ब्राह्मणों और क्षत्रियों को युआन च्वांग ने 'व्यवहार-शुचि और आडम्बर-रहित, अपने जीवन में पवित्र और सरल, और बहुत मितव्ययी' वर्णन किया है। वह यह भी कहता है—'देश की भिन्न भिन्न जातियों और वर्णों में ब्राह्मण पवित्रतम और सबसे अधिक प्रतिष्ठित थे', और उनके अपने नाम पर सारे देश का नाम पड़ा है; 'भारतवर्ष का ब्राह्मणखण्ड नाम लोकप्रिय हो गया था।' अन्तर्जातीय विवाहों का कोई चलन नहीं था। युआन च्वांग कहता है—'नातेदार, चाहे वे पितृकुल के हों या मातृकुल के, परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं करते।'

खान-पान और विवाह-सम्बन्धी जातीय बन्धन भिन्न भिन्न जातियों के बीच अन्य बातों में स्वतन्त्र सामाजिक समागम के बाधक नहीं माने गये थे। उदाहरण के लिये, बाण एक कट्टर और कृतविद्य ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ था, और इसपर भी उसके अत्यन्त गाढ़ सहचरों और प्रियतम सखाओं के मण्डल में दो पारशव भाई (जिन का प्रथम उल्लेख किया गया है), दो वन्दी (चारण), एक कात्यायनिका (वर्ण-जाति रहित तपस्विनी विधवा), एक जाङ्गलिक

(सर्प-वैद्य), एक ताम्बूल दायक, एक कलाद (सुनार), एक हैरिक (सुवर्णकार निरीक्षक), एक लेखक, एक चित्रकृत् (चितेरा), एक पुस्तकृत (पटवारी), एक मार्दङ्गिक (मृदङ्ग बजाने वाला), दो गवैये, एक सैरन्ध्री (चेटी), दो वांशिक (बांसुरी बजाने वाले), एक संगीताचार्य (गन्धर्वोपाध्याय), एक संवाहिका (पैर दबाने वाली), एक लासक (नाचनेवाला), एक आक्षिक (पांसे खेलनेवाला), एक कितव (जुआरी), एक शैलाली (नट) एक नर्तकी (नाचनेवाली), एक पाराशर तपस्वी, एक क्षपणक (दिगम्बर जैन), एक शैव तपस्वी, एक धातुवादविद् (धातुशास्त्री), एक दार्दुरिक (कुम्हार), और एक ऐन्द्रजालिक (मदारी) सम्मिलित थे [हर्ष० ४१–४२]।

युआन च्वाँग ने लोगों की शारीरिक शुद्धता को देखा था। 'वे स्वयं अन्तःकरण की प्रेरणा से पवित्र रहते हैं, विवशता के कारण नहीं। प्रत्येक समय भोजन करने से पहिले उनके लिए स्नान करना अवश्यम्भावी है; उच्छिष्ट भोजन और बचे खुचे अन्न को फिर नहीं परोसा जाता; भोजन किये बर्तनों में दूसरों को नहीं परोसा जाता; काठ और मिट्टी के बर्तन एक बार काम में लाये जाने के बाद अवश्य फेंक दिये जाते हैं, किन्तु सोने चांदी, ताम्बे या लोहे के बने हुए धातु के बर्तन धोकर काम में लाये जाते हैं।' फ़ाहियान की भांति युआन च्वांग को भी भारतवर्ष के लोगों की आहार की पवित्रता देखने में आई। 'प्याज और लहसन को प्रायः नहीं बरता जाता, और जो लोग उन्हें खाते हैं वे बिरादरी से छेक दिये जाते हैं।' भेड़ बकरी और हरिण के मांस को छोड़कर अन्य सब प्रकार का मांस निषिद्ध था। मछली भी विहित थी, किन्तु साधारण भोजन में दूध, घी,

शक्कर, गुड़, पूए और सरसों का तेल और भूजा हुआ अन्न सम्मिलित थे [Watters, i. 140, 151, 152, 168, and 178]।

हर्ष के जन्म के उपलक्ष में मनाई गई रंगरेलियों के अवसर पर बाण ने महल के लोगों के आचरण का जैसा चित्र खींचा है यदि वह विश्वसनीय हो तो दरबारी जीवन और ऊपरली श्रेणी के लोगों का जीवन पवित्र और नैतिक मर्यादा से युक्त प्रतीत नहीं होता। उस समय का दृश्य स्वच्छन्द प्रमोद और निरंकुश विलास का प्रदर्शन था, जिसमें भाग लेने वाले थे—'प्रेमियों को लुभाने वाली मतवाली दासियां, नाच में मदमाती कुटनियों का आलिङ्गन करनेवाले वृद्ध सामन्त, गीतों में राज्य के मन्त्रियों की गुप्त प्रेम-वार्ताओं को सूचित करनेवाले दुष्ट दासी पुत्र, अश्लील भाषा में वाग्युद्ध करते हुए अन्य दास, राजा की दासियां, विलासी युवक और वेश्याएं' [हर्ष० १३०]। 'जब सब स्त्रियां नाचने में प्रवृत्त हो गईं तो बुढ़ियाएं भी उन्मादिनी बन कर चिल्लाने लगीं। बूढ़े भी मानो जादू के वश में होकर निर्लज्ज बन गये। विद्वान् भी मत्त पुरुषों के समान जैसे अपने आप को भूल गये। यही नहीं, यतियों के हृदय भी नाचने के लिए चलायमान हो उठे। [हर्ष० १३४]।' रत्नावली में भी हर्ष ने इस आमोद प्रमोद का चित्र खींचा है जिसमें वसन्तोत्सव के अवसर पर नगरनिवासियों ने अपनी सारी सुध बुध भुला दी थी। हम नशे में चूर हुई और नाचने वाली स्त्रियों का वर्णन पढ़ते हैं जो सिन्दूरराग से लथपथ होरही थीं और सांप के फन की आकृति वाली पिचकारियों [सर्पफणाकृतिश्टङ्गक] के पानी से सराबोर हो रही थीं, उत्तम वस्त्रों

से सजे हुए निज मित्रों का आलिङ्गन करतीं थीं, और राज-मार्गों के द्वार उनकी तालियों से गूँज रहे थे। हम रंगशालाओं (प्रेक्षागृह), संगीतशालाओं और चित्रशालाओं का भी वर्णन पढ़ते हैं जहां नगरनिवासी अपना मनोविनोद करते थे। निःसन्देह यह सब कवि की अतिशयोक्ति है किन्तु अतिशयोक्ति भी सचाई के आधार पर स्थित होती है। इस सम्बन्ध में हम केवल यही अनुमान कर सकते हैं कि दरबारी और नागरिक जीवन की ये विशेषताएं हर्ष के उत्तरवर्ती कठोर शासन में लुप्त हो चली थीं, जब उसने बौद्ध धर्म का ग्रहण किया और 'अपनी बहिन के साथ कषाय-वस्त्र धारण किए [हर्ष० २५६]', ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अशोक के समय में उसके पूर्वाधिकारियों के बहुत से रीति-रिवाज लुप्त हो गये थे।

हमारे पास ऐसी प्रमाण-सामग्री भी है जो तत्कालीन स्त्रियों की प्रतिष्ठा को सूचित करती है। उच्च श्रेणी की स्त्रियां शिक्षा ग्रहण करती थीं और परदे में नहीं रहती थीं। जैसा कि हम देख चुके हैं. राजकुमारी राज्यश्री इतनी शिक्षित थी कि वह महायान पर युआन च्वांग के व्याख्यान को समझ सकती थी। बाण हमें बतलाता है कि उसके भाई हर्ष ने बौद्ध सिद्धान्तों पर अपनी बहिन को व्याख्यान देने के लिये विश्रुत बौद्ध मुनि दिवाकरमित्र को नियुक्त किया था। राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने के नियम बहुत कड़े नहीं प्रतीत होते। बाण की कादम्बरी के एक स्थल के अनुसार उसमें बिना किसी नियन्त्रण के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की वृद्ध तपास्विनियाँ, 'अर्हत्, कृष्ण, विश्रवस, अवलोकितेश्वर और विराञ्चि की अनुयायिनी स्त्रियां' जा सकती थीं, जिस के कारण राजकुल की धार्मिक सहानुभूति और

भाव बहुत विशद और सर्वप्रिय हो गए थे। महल में राजकुमारियों को ललित कलाओं की शिक्षा देने का भी प्रबन्ध था। बाण के अनुसार राज्यश्री को निपुण शिक्षकों के द्वारा संगीत और नृत्य की शिक्षा दी गई थी, जो इसी प्रयोजन के लिए वहाँ रक्खे गये थे। स्वयं हर्ष की प्रियदर्शिका नाटिका में राजा परिचारिका प्रियदर्शिका की गीत-नृत्य वाद्य आदि की शिक्षा के प्रबन्ध का काम रानी को सौंपता है। इन स्त्रियों की साधनाओं में से एक चित्र बनाने का काम प्रतीत होता है। रत्नावली में नायिका चित्रफलक पर वर्तिका और रङ्गों से, जो टोकरी (समुद्गक) में ले जाये जाते थे, अपने प्रेमी का चित्र खींचती हुई दर्शायी गई है। इन नाटकों में चित्र और संगीत की पाठशालाओं (चित्रशाला और गन्धर्व-शाला) के भी निर्देश हैं। यह भी एक उल्लेखनीय बात है कि लड़कियों का बालविवाह उस ज़माने का रिवाज था। राजकुमारी राज्यश्री युवावस्था को प्राप्त होने से पहिले ब्याही गई थी। वह अपने जीवन की उषा ही में विधवा भी हो गई और यावज्जीवन विधवा रही। जैसा कि युआन च्वांग हमें बतलाता है 'कोई स्त्री कभी दूसरा विवाह नहीं करती'। राज्यश्री पर्दे में नहीं रहती थी यह इस बात से स्पष्ट है कि चीनी यात्री के व्याख्यानों को सुनते समय वह 'राजा के पीछे बैठी रही थी' [*Life*, p. 176] और एक विशेष परि-स्थिति में, जिसका पहले वर्णन हो चुका है, वह विन्ध्य-कान्तार में भी स्वतन्त्र घूमी थी। यह उल्लेख भी कर देना उचित होगा कि उस ज़माने में पति के साथ सती होने की प्रथा भी ज्ञात थी। स्वयं राजकुमारी राज्यश्री अपने मृत पति का अनुसरण करने को उद्यत थी किन्तु अन्त में यथा-समय उसके भाई के बीच में आजाने से उसके इस उद्योग

में रुकावट पड़ गई। रानी यशोवती, जैसा कि बाण ने लिखा है, सती-शिरोमणि थी [हर्ष० १६८]; अपने योग्य पुत्र हर्ष के बहुत मना करने पर भी उसने दृढ़ संकल्प किया कि 'विधवा होने से पहले ही मैं अपने जीवन का अन्त कर दूंगी', और अपने मरणोन्मुख पति के प्रति अपने भक्ति भाव से प्रेरित होकर उसने कहा—'ऐसे अवसर पर प्राणों को न त्याग कर उनकी रक्षा करना हृदयहीनता का द्योतक होगा। अक्षय प्रेम के कारण नित्य बढ़नेवाले पति-वियोग जनित शोक की तुलना में स्वयं अग्नि भी नितान्त शीतल है [हर्ष० १६७]। फिर अपने पुत्र को छाती से लगा कर और उसके सिर को चूम कर, रानी, जो यम की भी सम्राज्ञी थी, अन्तः-पुर से पैदल ही आगे बढ़ी और पुर-वासियों के रुदन के मध्य उसने सीधे सरस्वती के तट की ओर प्रस्थान किया, और वहां अग्नि की आराधना करके 'अपने पति के चरण-रज की भाँति उस के स्वर्ग आने की घोषणा करने के लिए उससे आगे जाने के हेतु, उस ने अग्नि में प्रवेश किया'। प्रियदर्शिका में हर्ष ने विन्ध्यकेतु की स्त्री के सती होने का वर्णन दिया है। सन् ५१० ई० के फ्लीट के नं० २० शिलालेख में यह उल्लेख है कि सामन्त गोपराज की स्त्री ने, जो अपने राजा गुप्त सम्राट् भानुगुप्त के लिये लड़ते हुए रण में काम आया, सती होकर प्राण दिये। उच्च स्थानों में, राजकीय परिवारों में पत्नियों के सतीत्व और भक्ति के ऐसे उदाहरणों के कारण देश के साधारण नैतिक वायुमण्डल का पवित्र और उन्नत होना अवश्यम्भावी था।

उस समय समुद्र यात्राएं बहुत प्रचलित थीं[1]। हम एक

---

१ रत्नावली नाटिका में नायिका की सिंहल से कौशाम्बी तक की समुद्रयात्रा, नाव के डूबने और एक तख्ते पर तैरती हुई उसके कौशा-

ब्राह्मण दूत का वर्णन पढ़ते हैं जिसे हर्ष ने सन् ६४१ ई० में चीन को भेजा था। जब युआन च्वाँग चीन को वापिस जाने वाला था, हर्ष ने उससे पूछा कि आप किस मार्ग से वापिस जायेंगे और उससे कहा कि 'यदि आप दक्षिणी समुद्र मार्ग से जाना चाहें तो मैं आपके साथ सरकारी परिचारक भेजूँगा' [*Life*, p. 188], जिसका अभिप्राय यह है कि हर्ष का शासन चीन जानेवाले समुद्र मार्ग से अधिक परिचित था। इस मार्ग से अनेकों राजदूत, सौदागर, धर्मप्रचारक और यात्री आते जाते थे, जिन्होंने कई शताब्दियों तक प्रयत्न करके राजनैतिक, व्यापारिक और संस्कृति-सम्बन्धी सम्बन्ध के लिये इन दोनों मुल्कों में परस्पर घनिष्ठता पैदा कर दी थी। उदाहरण के लिए चौथी शताब्दी में फ़ाहियान इसी मार्ग से भारत में आया था और इसी से चीन को वापिस गया था। भारतवर्ष के ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से फ़ाहियान चौदह दिन की समुद्र यात्रा के बाद लङ्का में पहुंचा, फिर एक बड़े जहाज़ में, जिसमें २०० से अधिक मुसाफ़िर थे, वह जावा में आया जो दूसरा विश्राम-स्थान था। जावा से इसी प्रकार के एक और पोत में वह पचास दिन में क्वांग चो पहुंचा, क्योंकि कि उसमें इतने ही दिनों के लिये खाने पीने आदि का सामान मौजूद था। मुसाफिर, जो संख्या में २०० से ऊपर थे, सब के सब ब्राह्मण और सौदागर थे। भारतवर्ष के इस समुद्री व्यापार और उसकी औपनिवेशिक और प्रचार-सम्बन्धी कर्मण्यता ने गुप्त सम्राटों और हर्ष के विस्तीर्ण काल में वृद्धि प्राप्त की। जावा के इतिवृत्तों में सन् ६०३ ई० के लगभग ६ बड़े और १०० छोटे जहाज़ों में भारतवर्ष के पश्चिमी तट से लगभग ५,००० भारतवासियों की बड़ी

म्बा के एक नौवणिक् द्वारा बचाए जाने का उल्लेख है [समुद्रे यानभंगनिमग्नायाः फलकासादनम्]।

भारी संख्या (जिस में किसान, शिल्पी, योधा, वैद्य और लेखक अर्थात् ऐसे लोग सम्मिलित थे जो एक स्वतन्त्र उपनिवेश की सृष्टि कर सकते थे) जावा में जाकर बसने का निर्देश किया गया है। इसके बाद फिर २,००० आदमी और वहां जाकर बसे जो पत्थर और पीतल की नक्काशी का काम करनेवाले थे। जावा के बोरोबुदुर और प्राम्बनम् के विशाल मन्दिरों के लिए हम भारत से गये हुए इन्हीं कारीगरों के ऋणी हैं; ये मन्दिर भारतीय कला के उत्तम उदाहरणों में स्थान ग्रहण करते हैं। अनुमान किया जाता है कि गुजरात के बन्दरगाहों से गये हुए ये लोग शक रहे होंगे जिनकी शक्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजयों से नष्ट हो चुकी थी, और इन में सफेद हूण भी रहे होंगे जो सन् ५५० और ६०० ई० के बीच फारस के सासनी राजाओं से और तुर्कों से हराये जाने के कारण उत्तर की ओर लौटने से रोक दिये गये थे। फिर प्रभाकरवर्धन की विजयों का ज़माना आया, जिसने हूणों, गुर्जरों, लाटों को और गान्धार, सिन्ध और मालवा के राजाओं को परास्त कर डाला था; इसके बाद स्वयं हर्ष की दिग्विजयों के कारण अनन्तसंख्यक शरणार्थी गुजरात के बन्दरगाहों की ओर भाग गये जो इस अशान्ति और विप्लव से मुक्त हो कर नये प्रदेशों में बसने के लिये उत्सुक थे। इस प्रकार इन विशाल जन-निर्यातों के कारण दूरवर्ती पूर्व को जाने के समुद्र मार्ग अधिक पूर्णता से खुल गये जो व्यापार और उपनिवेश के नये नये क्षेत्रों तक जाते थे। इत्सिंग के भ्रमण में, जो हर्ष की मृत्यु के कुछ ही समय बाद भारतवर्ष में आया, हम देखते हैं कि किस हद तक इन मार्गों को छान डाला गया था। इत्सिंग चीन से सन् ६७१ ई० में एक फारसी जहाज में रवाना हुआ था। बीस दिन की यात्रा से पहले ही जहाज़ भोज नाम के प्रथम स्थान पर

पहुंचा जो श्रीभोज नाम के देश की राजधानी था। वहां इत्सिंग एक और जहाज़ में बैठा और पन्द्रह दिन की यात्रा के बाद मलयु में पहुंचा जो उन दिनों श्रीभोज का ही एक हिस्सा था। फिर वहां से वह एक तीसरे जहाज़ में चढ़ा और पन्द्रह दिन के बाद क-च में आया जो श्रीभोज का एक बन्दरगाह था। फिर एक और जहाज़ में, जो इस देश के राजा का था, वह दस दिन की यात्रा के बाद एक और देश में पहुंचा जो 'नंगे लोगों के देश' (सम्भवतः निकोबार द्वीप) नाम से ख्यात था, जहां से सीधे भारतवर्ष की ओर चल कर वह लगभग एक पक्ष की यात्रा के बाद ताम्रलिप्ति के विशाल बन्दरगाह में उतरा। इत्सिंग ने वापसी यात्रा का निम्न लिखित ब्यौरा दिया है—'ताम्रलिप्ति से जहाज़ में दो महीने दक्षिण-पूर्व की ओर चल कर हम क-च में पहुंचते हैं इसी बीच में वहां भोज से जहाज़ पहुंचता है। किन्तु जो लोग लंका को जाते हैं उन्हें अपने जहाज़ को दक्षिण-पश्चिम की ओर ले जाना चाहिये। क-च में शीत काल तक ठहरते हैं। फिर दक्षिण को जाने के लिए जहाज़ में बैठते हैं, और एक महीने के बाद हम मलयु या भोज देश में पहुँचते हैं। यहां हम आधे ग्रीष्म तक ठहरते हैं और फिर जहाज़ में बैठ कर उत्तर को चलते हैं। लगभग एक महीने में हम क्वांग-फु में पहुँचते हैं। इस प्रकार मैंने घर को वापिस आने के मार्ग का संक्षेप से वर्णन कर दिया है; मैं आशा करता हूँ कि बुद्धिमान् लोग और अधिक सुनने से अपने ज्ञान की वृद्धि करेंगे' [देखो Takakusu's ed., Introd.]।

इन जहाज़ी सुविधाओं और सामुद्रिक यात्राओं के अस्तित्व में आने का कारण इन देशों की पारस्परिक व्यवसायिक और संस्कृति-सम्बन्धी आवश्यकताएं थीं। भारतवर्ष और इन दूरवर्ती मुल्कों में जो उसकी सभ्यता के उपनिवेश थे, माल

और विचार दोनों का ही बड़ा तीव्र आवागमन था। इनमें से सुमात्रा का द्वीप मुख्य था जो उस समय मलायु या श्री-भोज नाम से ज्ञात था; यह जावा का एक उपनिवेश था, जो स्वयं भी भारतीय प्रभाव का अड्डा था। यहाँ इत्सिंग ने वर्षों संस्कृत और पाली का अध्ययन किया। राजधानी में उसे १,००० से भी अधिक भिक्षु दिखाई दिये जो उन सब विषयों को पढ़ते थे जो भारतवर्ष के सबसे अधिक संस्कृत भाग अर्थात् मध्यदेश में पढ़े जाते थे। जावा, जिसे फाहियान (सन् ४१४ ई०) ने जवदि नाम दिया है, इत्सिंग के समय में कालिंग कहलाता था। वहाँ सबसे पहले ब्राह्मण धर्म की और उसके बाद बौद्ध धर्म की स्थापना की गई थी। सन् ६५६ के एक सुमात्रा के शिलालेख में राजा आदित्यधर्म को जावा का शासक कहा गया है, और वहाँ पांचवीं शताब्दी तक के पुराने संस्कृत और वैष्णव शिलालेख पाये जाते हैं। इत्सिंग के देखने में साधारणतया जो बात आई वह यह है कि 'दक्षिण महासागर के द्वीपों में अनेकों राजा महाराजा (जिनमें उसने ग्यारह से अधिक गिने हैं) बौद्धधर्म की सराहना करते हैं और उसमें विश्वास रखते हैं'; वे 'सब बौद्ध धर्म के प्रभाव से अभिनिविष्ट' हैं [तत्रैव]।

१ इन विदेशी मुल्कों में भारतीय प्रभाव के विषय में एक अलग ग्रन्थ लिखा जा सकता है। शायद सर्वोत्तम आधुनिक विवरण इलियट की स्मरणीय रचना *Hinduism and Buddhism* नामी ग्रन्थ के तीन खण्डों में दिया गया है। इस सम्बन्ध में जो कतिपय शिलालेख उपलब्ध हुए हैं उनका साक्ष्य यहां पर उद्धरण किया जाता है। मलय प्रायद्वीप के वेलज़ली ज़िले में बुद्धगुप्त नामी एक जहाज़ी कप्तान (महानाविक) का जो रक्तमृत्तिका (बंगाल में मुर्शिदाबाद ज़िले के रांगामाटी) से वहां पधारा था, चौथी शताब्दी का एक

वस्तुतः हर्ष के काल में भारत की सीमाओं से परे दक्षिणी समुद्र के द्वीपों और पूर्वी देशों की ओर बृहत्तर भारत का बहुत भारी विकास हुआ। भारतीय संस्कृति भारतवर्ष के सभी पड़ोसी मुल्कों में फैल रही थी। हर्ष के समय के लिए इसका कुछ सर्वोत्तम प्रमाण चीनी यात्री युआन च्वाँग ने दिया है। स्थल मार्ग से चीन से भारतवर्ष को आते हुए और फिर वापिस होते समय उन देशों में जिनसे होकर उसे गुजरना पड़ा उसे भारतीय प्रभाव के निश्चित चिह्न दृष्टिगोचर हुए। येंकि देश में उसे 'दस से अधिक बौद्ध विहार और २,००० से ऊपर हीनयान की सर्वास्तिवाद शाखा के साधु' दिखाई दिये। 'चूंकि सूत्र शिक्षा और विनय-धर्म में उन्होंने भारतवर्ष का अनुसरण किया है, इसलिए भारतवर्ष के साहित्य में ही इन विषयों को विद्यार्थी पूर्णता के साथ पढ़ते हैं'। इस के अतिरिक्त हमें यह भी बतलाया गया है कि साहित्य के अलावा इस देश की लिपि 'कुछ परिवर्तन के साथ भारतवर्ष की लिपि से ली गई है' [Watters, i. 48 f.]। चीनी स्रोतों से वाटर्ज़ हमें यह बतलाता है कि इस देश में आरण्य-विहार नाम का विख्यात मठ था जहां सन् ५८५ में, चीन को जाते समय, भारतीय महर्षि धर्मगुप्त टिका था।

शिलालेख मिला है। शिलालेखों की एक परम्परा में अनेकों शैव हिन्दू राजा बृहद् भारत [Further India] के राजा बतलाये गए हैं जो अपनी उत्पत्ति द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा से बतलाते थे और जिन्होंने वहां सन् ई० की दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक राज्य किया। पांचवीं शताब्दी का एक पल्लव लिपि में लिखा हुआ शिलालेख, जो पूर्वी बोर्नियो के कोइटी (Koetei) नाम के स्थान में पाया गया था, राजा मूलवर्मा का उल्लेख करते हुए बतलाता है कि वह उस प्रदेश में शासन करता था [देखो *IA*, 1921, p. 117]।

इसके बाद कु-चिह मुल्क में हमारे यात्री ने १०० से अधिक विहार और उसी सर्वास्तिवाद-शाखा से सम्बन्ध रखनेवाले ५,००० से ऊपर बौद्ध भिक्षु देखे जो भारत की भाषा और ग्रन्थों में निष्णात थे। भारत से ही इस देश ने भी कुछ परिवर्तित रूप में अपनी लिपि प्राप्त की थी [तत्रैव, p. 59]। अन्य चीनी स्रोतों से वाटर्ज़ हमें बतलाता है कि इस देश में सर्वत्र बौद्ध भवनों और मूर्तियों की संख्या बहुत बड़ी थी। इसी के पड़ोस में पूर्व और पश्चिम नाम के दो विहार बतलाये गये हैं जिन में प्रायः मानवी कौशल की पहुंच से परे लोकोत्तर सौन्दर्यवाली बुद्ध की मूर्तियां थीं; पहले विहार में श्वेत पत्थर का एक पट्ट था जिस पर बुद्ध का पदचिह्न अङ्कित था। कु-चिह नगर के बाहर 'बुद्ध की ९० फुट से अधिक ऊंची दो खड़ी मूर्तियां थीं जो उस स्थान को लक्षित करती थीं जहां विराट् पञ्चवार्षिकी बौद्ध सभाएं की गई थीं, और जहां शरद् ऋतु में पुरोहितवर्ग और गृहस्थ लोगों की वार्षिक धार्मिक बैठकें होती थीं। ये बैठकें कई दिनों तक होती रहती थीं और देश के सभी भागों से धर्मभिक्षु आकर उसमें शामिल होते थे। जब इन सभाओं के अधिवेशन होते रहते थे तो राजा और प्रजा सभी लोग अपना अपना काम धन्धा छोड़ कर छुट्टी मनाते, व्रत रखते और धार्मिक उपदेशों को सुनते थे। सभी विहारों से वाहनों पर बुद्ध की मूर्तियों के जुलूस निकाले जाते थे'। इस प्रकार इस दूरवर्ती देश में हमें भारतवर्ष की कुछ बौद्ध संस्थाओं की स्थापना दृष्टिगोचर होती है जिनमें वे सभाएं भी सम्मिलित थीं जिनके अधिवेशन स्वयं हर्ष ऐसे ठाटबाट और इतनी धूम धाम से किया करता था। बिल्कुल पास ही एक बहुत विख्यात विहार था जो आश्चर्य विहार कहलाता था; उसमें

विशाल भवन और कला के गुणों से निष्पन्न बुद्ध की मूर्तियां विद्यमान थीं और दूर दूर देशों से आये हुए लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के टिकने के लिए एक स्थान बना हुआ था, जहां राजा, राजकर्मचारियों और अन्य लोगों के द्वारा उनका बड़ा आतिथ्य सत्कार होता था। जीवनी से हमें ज्ञात होता है कि इस विहार में युआन च्वाँग का सत्कारकर्ता हीनयान का अनुयायी मोक्षगुप्त था जिसने बीस वर्ष से अधिक भारतवर्ष में अध्ययन किया था और जो टीकाओं और व्युत्पत्ति के ज्ञान के लिये प्रसिद्ध था। किन्तु विद्या में उसे भी युआन च्वांग का लोहा मानना पड़ा और वह उसका शिष्य बन गया। वाटर्ज़ हमें यह भी बतलाता है कि सन् ५८५ ई० के लगभग धर्मगुप्त भी इस विहार में टिका था और दूर दूर देशों से आये हुए विद्यार्थियों में, जो वहां प्रधानतया विनय के अध्ययन के लिए आते थे, कुमारजीव का समकालीन प्रसिद्ध विमलाक्ष भी था [p. 64]।

पो-लु-क (वालुका) देश में अनेकों विहार विद्यमान थे, जिन में सर्वास्तिवाद-शाखा के १,००० से अधिक धर्म-भिक्षु रहते थे।

इसके बाद हमारा यात्री ताशकंद, समरकंद और तोखार जैसे मुल्कों से होकर निकलता है जिन पर तुरुष्क लोगों का शासन था और जहां बौद्ध प्रभाव के कोई निशान नहीं थे। फिर वह तार्मिज़ में पहुँचता है जहाँ दस से अधिक विहार और १,००० भिक्षु थे और सुन्दर स्तूप और बुद्ध की मूर्तियां विद्यमान थीं। आसपास थोड़े से और स्थान भी थे जिन-में विहार बने हुए थे, किन्तु उस प्रदेश में बौद्ध धर्म का सर्वोत्तम केन्द्र कुन्दुज़ था, जहां युआन च्वांग ने धर्मसंघ नाम के प्रसिद्ध विद्वान् के साथ परिचय प्राप्त किया। स्थानीय शासक

ने यात्रा का उसके भारतवर्ष की ओर प्रस्थान करते समय रक्षक-वर्ग दिया और मार्ग में उसके लिए रहने आदि का सरकारी प्रबन्ध कर दिया था (यह एक प्रचलित प्रथा थी कि जब राजकर्मचारी दौरे पर निकलते थे तो लोगों से मनुष्यों, घोड़ों आदि के रूप में सेवा ली जाती थी; इसी प्रकार की सेवा का प्रबन्ध चीनी यात्री के लिए कर दिया गया)। उसने यात्री से बलख (फ़ो-हो) जाने की प्रेरणा की जो उसके सैन्य-दल के नियन्त्रण में बौद्ध धर्म का एक केन्द्र था। स्वयं उसकी राजधानी 'लघु राजगृह नगरी' कहलाती थी, जिसमें १०० से अधिक बौद्ध विहार और ३,००० से अधिक हीनयान भिक्षु थे। नगर के बाहर 'नव संघाराम' था, जो हिन्दूकुश के उत्तर में बौद्धों का एकमात्र अड्डा था, जिस में निरन्तर ऐसे आचार्य रहते थे जो धर्म ग्रन्थों के भाष्यकार थे'। उस में बुद्ध और वैश्रवण की बहुमूल्य मूर्तियां थीं और अन्य दुर्लभ वस्तुएं विद्यमान थीं जिनके कारण वह बहुधा आसपास के असभ्य दस्युराजों की लूट का लक्ष्य बना रहता था। इस विहार में बुद्ध के कुछ अवशेष भी थे, यथा—उसका स्नान-पात्र, उसका दांत और सम्मार्जनी—जो त्योहारों के अव-सरों पर जनता को दिखलाये जाते थे, जब कि पास ही एक स्तूप था जिसमें भी बुद्ध के अवशेष मौजूद थे। इस विहार में प्रज्ञाकर नाम का एक विद्वान् भिक्षु रहता था जिससे युआन च्वांग ने कुछ अभिधर्म ग्रन्थों और विभाषाशास्त्र का अध्ययन किया।

बलख से चल कर वह गाज़ देश में आया जिसमें दस से अधिक विहार और ३०० सर्वास्तिवादी भिक्षु थे; वहां से वह बामियन में आया, जहां अनेकों विहार और सहस्रों लोकोत्तरवादी भिक्षु थे; और फिर वहां से कपिस देश में, जो,

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, भारत की सीमा पर बौद्ध धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जिसमें १,००० से अधिक विहार थे और भिक्षुओं की संख्या जो प्रधानतया महायान बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, ६,००० से अधिक थी।

जब युआन च्वांग दूसरे स्थल-मार्ग से वापिस गया तो उसे निम्नलिखित स्थानों में बौद्ध धर्म के केन्द्र दिखाई दिये-त्साओ-कु-त, जिसकी राजधानी ग़ज़नी थी और जहां सैंकड़ों विहार और १०,००० से अधिक महायान भिक्षु थे; काबुल का मुल्क, जिस पर एक कट्टर बौद्ध धर्मानुयायी तुरुष्क राजा शासन करता था; तुखार मुल्क में अंदरब, जहाँ उसके तुर्क देश होने पर भी, कतिपय विहार और भिक्षु विद्यमान थे, और जहां अशोक के समय का एक स्तूप भी था; खोस्त का मुल्क; बदख्शां, जहां थोड़े से विहार थे और जो ऐसे राजा की छत्रच्छाया में था जिसका 'बौद्ध धर्म में परम विश्वास' था; कुरन जो बदख्शां की ही भाँति एक बौद्ध प्रवृत्ति के राजा की छत्रच्छाया में था; वखन, जिसमें दस से अधिक विहार थे, जिनमें से एक में बहुमूल्य रत्नों से जड़े हुए और सोने का मुलम्मा चढ़े हुए ताम्बे के मण्डप के नीचे बुद्ध की एक पत्थर की मूर्ति थी; (पामीर की घाटी में) तशकुर्गन, जहाँ लोग 'सच्चे बौद्ध' थे, तत्कालीन राजा 'बौद्ध-धर्म का आश्रयदाता और अनुशिष्ट विद्वान् था, जिसके किसी एक पूर्वज को अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने परास्त करके वहां उसके महल में एक स्तूप बनवाया था "जिस पर वह राजा अन्यत्र चला गया और वहाँ उसने तक्षशिला से आग्रहपूर्वक लाये गये शास्त्राचार्य कुमारलब्ध के लिए एक शानदार विहार बनाया, जो कि सौत्रान्तिक शाखा का

प्रवर्त्तक था और पूर्व के अश्वघोष, दक्षिण के देव तथा पश्चिम के नागार्जुन आदि बौद्ध विद्वानों की बराबरी करता था; ओश, जिस में दस से अधिक विहार और बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवाद शाखा के १,००० भिक्षु थे; काशगर, जिसमें सैंकड़ों विहार और ऐसे भिक्षु थे जिन्होंने सारे त्रिपिटक विभाषाओं (टीकाओं) को अर्थ का अधिक अनुशीलन किये बिना ही कण्ठस्थ कर रक्खा था, जहाँ की लिपि भी भारतवर्ष से ली गई थी; चे-कु-क, जहाँ 'उन अन्य देशों में से किसी की भी अपेक्षा जिनमें बौद्ध धर्म पहुँचा था' महायान ग्रन्थ अधिक संख्या में विद्यमान थे; और अन्त में खोतान (सं० गोस्थान और कुस्तन), जहाँ युआन च्वांग ने भारतीय लिपि का प्रचार देखा, लोगों को बौद्ध धर्मी पाया और जिस में १०० से अधिक विहार और ५,००० से अधिक भिक्षु थे, जो प्रधानतया महायान को मानने वाले थे, और तत्कालीन राजा भी बौद्ध था; साथ ही युआन च्वाँग ने वहाँ बुद्ध की नाना प्रकार की मूर्तियां और वैरोचन और यशस् के (अशोक के समय का महान् अर्हत्, अशोक का मन्त्री, जो खोतान के उपनिवेश का सूत्रपात करने वाला था) विहारों [Watters, ii. 302], को भी देखा तथा अन्य अनेक प्राचीन अनुश्रुतियों का साक्षात्कार किया।

अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि समष्टि रूप से हर्ष के समय में भारतवर्ष को अपने इतिहास के एक अत्यन्त भव्य युग को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक दृढ आदर्शवादी सम्राट् की छत्रच्छाया में उसका आभ्यन्तरिक शासन खूब सुव्यवस्थित हो गया था जिसके फलस्वरूप उसने अपनी आत्मा का पूर्ण रूपेण सब दिशाओं में विकास प्राप्त किया! इस प्रकार सज्जित होकर बाहर भी

वह अपने विचारों से अपने पड़ोसी देशों को अधिक शक्ति के साथ प्रभावित करने में समर्थ हुआ; वे लोग भारत को सर्वोच्च विवेक और संस्कृति का घर मान कर अपनी ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने के लिए इस पुण्य भूमि की शरण में आते थे।

उपसंहार

जीवनी के अनुसार हर्ष 'युंग ह्वी काल की समाप्ति के करीब' अर्थात् सन् ६५५ ई० के लगभग परलोक सिधारा; तकाकुसु ने भी इस तिथि को स्वीकार किया है [I-tsing, pp lvi and 163]। किन्तु जैसा वाटर्ज़ ने बतलाया है [i. 347], चीनी ग्रन्थों में इस घटना का समय सन् ६४८ दिया गया है, क्योंकि यही वह तिथि थी जब हर्ष के दरबार में भेजे हुए चीनी राजदूत ने उसके सिंहासन पर एक अपहारी को आसीन पाया था। इसके अतिरिक्त इसी वर्ष युआन च्वाँग ने अपनी यात्रा का विवरण ताइत्सुंग को अर्पण किया था; 'शीलादित्य इस रचना के अपने आधुनिक रूप में आने से पहिले ही संसार से चल बसा था'।

अब हम उसके सर्वोत्तम जीवनी-लेखक बाण के ओज-पूर्ण शब्दों में हर्ष के चरित्र का चित्रण देकर अपनी लेखनी को विश्राम देंगे—'वस्तुतः पृथिवी उसके कारण राजन्वती है! उसका राजत्व विस्मय में डालनेवाला और देवताओं को मात करनेवाला है! उस के त्याग के लिए अर्थी-जन काफ़ी नहीं हैं और न ही उस की प्रज्ञा के लिए शास्त्र पर्याप्त विषय हैं; उसका काव्य-कौशल वर्णनातीत है; उसके पराक्रम के लिए साहस के अवसरों का अभाव है; उसके तेज के लिए विस्तृत क्षेत्र चाहिए, उस की कीर्ति के विस्तार के लिए दिशाएं अपर्याप्त हैं, उसकी साधु-प्रकृति से अपनाये

जाने के लिए पर्याप्तसंख्यक सहृदयों का अभाव है; उसके गुण गणना से बाहर हैं (गणनातीत हैं), और अशेष ललित कलाएं उसकी प्रतिभा के लिए अत्यन्त सङ्कीर्ण क्षेत्र हैं [हर्ष० ७८]।' उसकी बहुमुखी प्रतिभा और जटिल चरित्र की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का इससे अधिक संक्षेप में और इस से अधिक ओजस्विनी भाषा में वर्णन करना कठिन है। वह एक साथ ही राजा और कवि, योधा और कृतविद्य, राजसी और साधु-स्वभाव का था, वह अपरिमेय सम्पत्ति का स्वामी था जिसे वह निस्सीम उदारता के साथ दान में देता था, उसमें एकच्छत्र सम्राट् के अनुरूप महानुभावता और भिखारी की जैसी विनयशीलता थी, और वह अखिल युद्ध-विद्या और ललित कलाओं, ज्ञान और गुणों का भण्डार था। उसने अपनी जीवनचर्या एक योधा की भांति आरम्भ की, तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों ने उसे प्रतीकार और प्रतिहिंसा, रणयात्राओं और दिग्विजयों के लिए विवश किया। किन्तु शीघ्र ही वह प्रकृतिस्थ हो गया, तथा अपनी वास्तविक प्रकृति का अनुसरण करने लगा, और यावज्जीवन अपने लम्बे शासनकाल में अत्यन्त दृढ शान्तिवादी, तथा युद्धसंसक्त राष्ट्रों के उस भीषण युग में भी अहिंसा-धर्म का अनुयायी और प्रचारक बन कर रहा। फलतः इसी धर्म के अनुयायी अपने प्रतापी पूर्ववर्ती अशोक मौर्य की भाँति वह स्वयं अपने सिरजे हुए चरित्रनायक [नागानन्द के राजा जीमूतवाहन] के मुख से अपने विषय में कह सकता था-

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यामयाचितः कृपया।
राज्यस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये॥

'करुणा से प्रेरित होकर, बिना किसी के कहे ही, जो मैं

दूसरों के लिए अपना शरीर तक न्योछावर करने को तय्यार हूँ वही मैं राज्य के निमित्त प्राणियों को वध करने की निष्ठुरता की कैसे अनुमति दे सकता हूँ ?' कहने की आवश्यकता नहीं कि उसकी दिग्विजयों के बाद के इतिहास में हम उसे इस उच्च राजकीय आदर्श की साधना में बहुत अंश में सफल पाते हैं ॥